व्याख्यान सार-संग्रह पुस्तकमाला का १६ वाँ पुष्प

श्रीमज्जैनाचार्य्य
पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज
के
व्याख्यानों में से:

श्रावक के तीन गुण व्रत

सम्पादक और प्रकाशक—
श्री साधुमार्गी जैन
पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय
का
हितेच्छु श्रावक मण्डल,
रतलाम (मालवा)

वि० संवत् १९९६
वीर संवत् २४६५
ईस्वी सन् १९३९

मूल्य
≡)

प्रथम संस्करण
१०००

प्रकाशक—
श्री साधुमार्गी जैन
पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय
का
हितेच्छु श्रावक मण्डल
रतलाम (मालवा)

अखिल भारतीय
श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस ऑफिस
बम्बई द्वारा
प्रमाणित

मुद्रक—
के० हमीरमल लूणियां जैन
अध्यक्ष—
दि डायमण्ड जुबिली (जैन) प्रेस, अजमेर

प्रासंगिक दो शब्द

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब के फरमाये हुवे, मंडल से संग्रहित व्याख्यानों में से "श्रावक के तीन गुणव्रत" नामक यह पुस्तक "व्याख्यानसार संग्रह पुस्तक माला" का सोलहवां पुष्प आपके सन्मुख उपस्थित करते हुए हमें परम हर्ष होता है। इससे पहले व्याख्यानों में से सम्पादित कराकर पन्द्रह पुष्प यह मंडल प्रकाशित कर चुका है। जिन्हें जैन एवं जैनेतर जनता ने बहुत ही आदर की दृष्टि से देखा और अपनाया है। इससे मंडल उत्साहपूर्वक यह पुस्तक सम्पादन कराके आपके करकमलों में पहुंचा रहा है। मंडल से प्रकाशित साहित्य के मुख्य दो विभाग हैं— (१) कथा विभाग और (२) तत्त्वविभाग। यह पुस्तक तत्त्वविभाग की है। तत्त्वविभाग ऐसा विषय है कि इसका जितना विवेचन किया जाय हो सकता है। इन व्रतों का संसार की शान्ति से अत्यधिक [illegible] है, जो विषय-प्रवेश से एवं व्रतों के स्वरूप से आपको अनुभव होगा।

नियमानुसार यह पुस्तक अखिल भारतवर्षीय श्री श्वे० स्था० जैन कॉन्फ्रेन्श ऑफिस वम्बई द्वारा—साहित्य निरीक्षक समिति से

प्रमाणित कराली गई है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य महाराज साहब जो व्याख्यान फरमाते हैं वे साधुभाषा में ही होते हैं फिर भी संग्राहक और सम्पादक द्वारा भाषा एवं भाव उलट जाने की भूल होगई हो तो उस भूल के उत्तरदायी वे ही हैं, पूज्य श्री का कोई दोष नहीं है। जो महाशय ऐसी भुलें हमें शुद्ध भावों से दिग्दर्शन करावेंगे उनका हम आभार मानेंगे और आगामी संस्करण में उस त्रुटि को सुधारने का प्रयत्न करेंगे। इत्यलम्।

रतलाम
आषाढ़ी पूर्णिमा
सं० १९९६ वि०

भवदीय—
बालचंद श्रीश्रीमाल, वर्द्धमान पीतलिया
सेक्रेटरी प्रेसीडेण्ट
श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्रीहुक्मीचंदजी महाराज की
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मंडल,
रतलाम (मालवा)

विषय सूची

विपय				पृष्ठ

विषय प्रवेश

आत्मा, अनादि काल से सुखाभिलाषी होकर सुख की खोज में इतस्ततः परिभ्रमण करता हुआ स्वर्ग मर्त्य और पाताल के सभी स्थानों को—एक बार नहीं किन्तु अनेक बार—स्पर्श कर आया, और जिन्हें आत्मा सुख का साधन मान रहा है, उन रत्नों, आभूषणों, महल एवं अप्सराओं का स्वामी बन कर उनका उपभोग भी कर आया, फिर भी इस आत्मा को कहीं भी सुख नहीं मिला, किन्तु वे सुख के साधन—भोगे हुए भोग—दुःख बढ़ाने के कारण ही हुए तथा हो रहे हैं। कवि ठीक ही कहता है, कि—

> न संसारोत्पन्नं चरितं मनुपश्यामि कुशलं ।
> विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ॥

महद्भिः पुण्यौघैश्चिर परिगृहीताश्च विषया।
महान्तो जायन्ते व्यसनमिवदातुं विषयिणाम् ॥

[भर्तृहरि—वैराग्य शतक]

अर्थात्—संसार से उत्पन्न चरित्रों पर जब दृष्टिपात किया जाता है, तो उनमें कुशलता नहीं दिखाई देती, अपितु पुण्य-फल स्वरूप स्वर्गादि सम्पत्ति भयावह ही दीख पड़ती है। अर्थात् पुण्य क्षय होने पर स्वर्गादि से भी पतन होता है, और पुण्य-समूह के प्रभाव से बहुत दिनों तक जिस सामग्री का संचय किया है, वह विषय-सामग्री अन्त समय में विषया-सक्तों के लिए सन्ताप देने वाली बन जाती है, तथा आत्मा आर्त्त रौद्र ध्यान के कारण दुर्गति का पथिक हो जाता है।

जैन शास्त्र भी यही कहते हैं, कि पहले तो विषय सुख के साधनों को प्राप्त करने में दुःख, यदि प्राप्त हो गये तो रक्षण का दुःख, पश्चात् उन्हें भोगते समय अतृप्ति अथवा इन साधनों को कोई छीन न ले इस बात की चिन्ता का दुःख और जब वे साधन छूट जाते हैं, तब वियोग का दुःख। इस तरह विषय-सुख के साधनों में दुःख बता कर ज्ञानी महापुरुष कहते हैं, कि हे आत्मा! यदि तुझे सच्चे और वास्तविक सुख की चाह है, तो जिनमें तूने सुख मान रखा है, उन विषय-सुख के साधनों से अपना ममत्व हटा; उनकी ओर से त्याग-भावना स्वीकार कर। जब तेरे में ऐसी त्याग-भावना होगी, और तू विषय-सुख के साधनों को त्यागता जावेगा, तब ही तुझे सुख का अनुभव होगा।

ऊपर बताई गई त्याग-भावना को आचरण में लाने के लिए शास्त्रकारों ने दो मार्ग का विधान किया है। पहला मार्ग है सांसारिक पदार्थों, अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होने के बाधक कारणों का सर्वथा (पूर्ण) त्याग और दूसरा मार्ग है आंशिक अथवा देश से त्याग। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, कि उनने जिनको हेय मान लिया है उन कार्यों या पदार्थों को अविलम्ब पूरी तरह त्याग देते हैं। इस तरह का त्याग करनेवाले, महाव्रती कहे जाते हैं। ऐसा त्याग वे ही कर सकते हैं, जिनका निश्चय में तो प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि कषाय का क्षयोपशम हो गया है, और व्यवहार में जिन्हें सांसारिक पदार्थों की ओर से उपरति घृणा अथवा वैराग्यभावना हो गई है; तथा जो असंयमपूर्ण जीवन से निकल कर संयमपूर्ण जीवन बिताना उचित एवं आवश्यक मानते हैं। किन्तु जो लोग इस सीमा तक नहीं पहुँचे हैं, जिनके प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम नहीं हुआ है, अथवा सांसारिक कार्य व्यवहार एवं विषय-भोग के साधनों से जिनका ममत्व पूरी तरह नहीं हटा है, अथवा जो इन सब को सर्वथा त्यागने में असमर्थ हैं, फिर भी जो इनके त्याग का मार्ग अपनाकर उस पर आगे बढ़ना चाहते हैं, वे इन सब को आंशिक अथवा देश से त्यागते हैं। ऐसे लोगों के लिए शास्त्रकारों ने पाँच अणुव्रत का विधान किया है। यद्यपि ऐसे देशत्यागियों का भी ध्येय तो वही

रहता है, जो पूर्ण त्यागियों का होता है, परन्तु देश मे त्याग करनेवाले लोग इस ध्येय की ओर धीरे धीरे बढ़ना चाहते हैं। शास्त्रकारों द्वारा बताये गये पाँच अणुव्रत का पालन गृहस्थावस्था में भी किया जा सकता है और इन व्रतों को पालने वाले लोग व्रतधारी श्रावक कहे जाते हैं।

यद्यपि महाव्रती न होनेवालों के लिए शास्त्र में पाँच अणुव्रत का विधान है और गृहस्थ श्रावक इन अणुव्रतों को स्वीकार भी करते हैं, परन्तु गृहस्थावस्था में अनेक ऐसी बाधाएँ उपस्थित होती हैं, अथवा ऐसे आकर्षक कारण हैं, कि जिससे स्वीकृत अणुव्रतों का पालन करने में कठिनाइयाँ जान पड़ने लगती हैं। अतः ऐसे अणुव्रतधारियों को उन कठिनाइयों से बचाने के लिए शास्त्रकारों ने तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत बताये। तीन गुणव्रत पाँच अणुव्रतों में शक्ति—संचार करते हैं, विशेषता उत्पन्न करते हैं, उनके पालन में होने वाली कठिनाइयों को दूर करते हैं और मूल अणुव्रतों को निर्मल रखते हैं।

अणुव्रतों की सहायता के लिए बताये गये तीन गुण व्रतों में मुख्यतः वृत्ति संकोच को ही विशेषता दी गई है। जब तक गमनागमन कम न किया जावे, उपभोग-परिभोग की मर्यादा न की जावे, आजीविका के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति के विषय में औचित्य अनौचित्य का विवेक करके अनुचित प्रवृत्ति न त्यागी

दी जावे, तब तक धारण किये हुए अणुव्रतों का पालन करने में कठिनाइयों का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है। इसी तरह गुण-व्रतों की रक्षा के लिए चार शिक्षा व्रतों का जो विधान किया गया है, उन शिक्षा व्रतों को स्वीकार करना भी आवश्यक है। क्योंकि गुणव्रतों में स्वीकृत वृत्ति संकोच को सुदृढ़ बनाने वाले शिक्षा व्रत ही हैं। गुणव्रत एवं शिक्षा व्रत, मूल अणुव्रत के प्राण स्वरूप हैं। जिस तरह शरीर तभी तक उपयोगी एवं कार्य साधक है, जब तक कि उसमें प्राण हैं, उसी तरह गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत के होने पर ही मूल अणुव्रत भी उपयोगी एवं कार्य साधक हो सकते हैं। इस बात को दृष्टि में रख कर शास्त्रकारों ने श्रावक के बारह व्रतों को मूलव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत इन तीन भागों में विभक्त कर दिया है। श्रावक के मूल पाँच व्रत—स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण हैं। इन पाँच मूल व्रतों के पश्चात् दिक् परिमाण, उप-भोग परिभोग परिमाण और अनर्थदण्ड विरमण ये तीन गुण-व्रत हैं तथा सामायिक, देशावगासिक, पौषधोपवास एवं अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षा व्रत हैं।

दिक्परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थ दण्ड विरमण व्रत, ये तीनों गुण व्रत हैं। अर्थात् जिस भावना से अव्रत का त्याग किया जाता है, उस त्याग की भावना

को आचरण में लाने के लिए वृत्ति का संकोच करनेवाले ये ही तीन व्रत हैं। इनको धारण एवं पालन करने में बहुत ही सावधानी तथा विवेक की आवश्यकता है। यदि इन व्रतों को निभाने के लिए वृत्ति का संकोच न किया गया और विवेक से काम न लिया गया तो गुण के बदले अवगुण पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए त्याग की भावना तो बढ़ी नहीं है, पुद्गलों पर से ममत्व हटा नहीं है, इन्द्रियों को प्रसन्नता देनेवाली अच्छी अच्छी वस्तुएँ प्राप्त करने की लालसा बनी हुई है, फिर भी अमुक आरम्भ-समारम्भ अपने हाथ से करने का त्याग कर लें और दूसरे व्यवसायी व्यक्ति द्वारा तय्यार किया हुआ पदार्थ लेकर भोग लें तथा यह मानें कि हमने आरम्भ-समारम्भ का पाप नहीं किया है, किन्तु हमने सीधी वस्तु भोगी इसलिए हमारा पाप टल गया है, हम पाप से बचे हुए हैं, तो यह पाप से बचना नहीं है, अपितु आत्मवंचना है। पाप से बचने का यह मार्ग नहीं है। यह मार्ग गुण के बदले अवगुण उत्पन्न करनेवाला है। पाप से बचने के लिए तो अपनी लालसा सीमित करके त्याग-भावना को ही महत्त्व देना चाहिए। यदि ऐसा करने की क्षमता अभी नहीं है तो अपनी आवश्यकताओं को सादगी और विवेकपूर्वक पूरी करता हुआ ऐसी क्षमता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना तो ठीक है,

परन्तु वास्तविकता को दूसरा रूप देकर गुण के बदले अवगुण पैदा करना उचित नहीं है।

मतलब यह है कि गुणव्रतों को धारण एवं पालन करने में सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिए। तभी ये गुण व्रत, मूल व्रतों में गुण उत्पन्न करने वाले हो सकते हैं। तीनों गुण-व्रत में किस किस तरह की मर्यादा करनी पड़ती है, तीनों का रूप क्या है, और इन गुण व्रतों से किस किस मूल व्रत में क्या क्या विशेषता आती है, आदि बातों के लिए तीनों व्रतों के विषय में आगे पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है।

दिक् परिमाण व्रत

तीन गुण व्रतों में से प्रथम गुण व्रत और श्रावक के बारह व्रतों में से छट्ठे व्रत का नाम दिक् परिमाण व्रत है। दिक् का अर्थ है दिशा। जैन शास्त्रानुसार दिशाएँ तीन हैं, यथा—

दिसिव्वए तिविहे पण्णत्ते तंजहा
उड्ढं अहेयं तीरियं।

अर्थात्—दिक्व्रत तीन तरह का है, ऊर्ध्व दिक्व्रत, अधः दिक्व्रत और तिर्यक दिक्व्रत।

अपने से ऊपर की ओर को ऊर्ध्व दिशा कहते हैं, नीचे की ओर को अधः दिशा कहते हैं और इन दोनों के बीच की ओर को तिर्यक दिशा कहते हैं। तिर्यक दिशा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार भेद हैं, जो चार दिशा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चार दिशा के सिवा चार विदिशाएँ भी हैं, जिनके नाम ईशान,

आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य हैं। जिस ओर सूर्य निकलता है, उस ओर मुँह करके खड़ा रहने पर सामने की ओर पूर्व दिशा होगी, पीठ की ओर पश्चिम दिशा होगी, बायें हाथ की ओर उत्तर और दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। इसी तरह सिर की ओर ऊर्ध्व दिशा तथा पैर के नीचे की ओर अध: (नीची) दिशा होगी। उत्तर तथा पूर्व दिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहा जाता है। पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय कोण कहते हैं। दक्षिण और पश्चिम दिशा के बीच के कोण को नैऋत्य कोण तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच के कोण को वायव्य कोण कहा जाता है। ये चारों कोण विदिशा कहलाते हैं और विदिशाओं का समावेश दिशाओं में भी हो जाता है।

इन बताई गई दिशाओं में गमनागमन करने (जाने आने) के सम्बन्ध में जो मर्यादा की जाती है, जो यह निश्चय किया जाता है, कि मैं अमुक स्थान से अमुक दिशा में अथवा सब दिशाओं में इतनी दूर से अधिक न जाऊंगा, उस मर्यादा या निश्चय को दिक्परिमाण व्रत कहते हैं।

अब यह देखते हैं कि दिक्परिमाण व्रत क्यों स्वीकार किया जाता है, और दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने से श्रावकों को क्या लाभ होता है। श्रावक लोग जो पांच अणुव्रत—जो श्रावकों के मूल व्रत—हैं—स्वीकार करते हैं, उन व्रतों पर स्थिर रह कर

आगे बढ़ना श्रावक का लक्ष्यबिन्दु होता है; परन्तु इसके लिए चित्त की शान्ति आवश्यक है। चित्त की शान्ति के बिना ध्येय के मार्ग पर स्थिर ही नहीं रह सकता, तो आगे तो बढ़ ही कैसे सकता है! और चित्त-शान्ति का उपाय है वृति का संकोच। जब तक वृति का संकोच नहीं होता, तब तक चित्त में चंचलता रहती ही है। जिसकी वृति संकुचित नहीं है, वह जब किसी स्थान के विषय में कोई बात सुनता है, तब उसे वह स्थान देखने, उस स्थान विषयक अनुभव प्राप्त करने और वहां के पदार्थों को भोगने का विचार हो ही जाता है। असंकुचित वृत्तिवाले मनुष्य का यह स्वभाव ही होता है। इस चंचलता के कारण गमनागमन होना भी स्वाभाविक है और तब त्याग-भावना छूट कर विलासिता अपना आधिपत्य जमा लेती है। इसलिए व्रतधारी श्रावक को, अपनी साधारण आवश्यकताएँ दृष्टि में रख कर दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करने रूप दिक्परिमाण व्रत अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

अब यह देखते हैं कि दिक् परिमाणव्रत धारण करने पर श्रावक के मूल व्रतों में किस प्रकार क्या विशेषता आती है, अथवा क्या लाभ होता है। इसके लिए पहले श्रावक के स्थूल अहिंसा व्रत के सम्बन्ध में विचार करते हैं। अपने सांसारिक जीवन को दृष्टि में रख कर श्रावक स्थूल अहिंसा व्रत ही स्वीकार करता है। सूक्ष्म अहिंसाव्रत का पालन करना श्रावक के लिए उस समय तक सम्भव

नहीं, जब तक कि वह गार्हस्थ्य जीवन में है। इसलिए वह स्थूल अहिंसा व्रत ही स्वीकार करता है। स्थूल अहिंसा व्रत का क्या रूप है, आदि बातों का वर्णन अहिंसा व्रत की व्याख्या करते हुए किया जा चुका है, इसलिए इस स्थान पर इस विषयक वर्णन अनावश्यक है। यहां तो यह बताना है कि स्थूल अहिंसा व्रत स्वीकार और स्थूल हिंसा का त्याग करते हुए श्रावक लोग जिस आरम्भजा हिंसा का आगार रखते हैं, वह आरम्भजा हिंसा का आगार सभी स्थानों के लिए खुला हुआ है। इस आगार की कोई सीमा नहीं की है; परन्तु दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस आगार की भी सीमा हो जाती है। अर्थात् स्थूल अहिंसा व्रत के आगार में जो आरम्भजा हिंसा रखी गई है, वह आरम्भजा हिंसा दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर असीम नहीं रहती, किन्तु केवल उतनेही स्थान के लिए रह जाती है; जितना स्थान दिक्परिमाण व्रत में गमनागमन के लिए रखा गया है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते समय गमनागमन के लिए रखी गई सीमा के बाहर की आरम्भजा हिंसा भी छूट जाती है और इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक के स्वीकृत अहिंसाव्रत का क्षेत्र विस्तृत तथा आगार में रखी गई आरम्भजा हिंसा का क्षेत्र परिमित हो जाता है।

श्रावक का दूसरा मूलव्रत स्थूल सत्य है। इस व्रत का रूप भी

पहले बताया जा चुका है। इस व्रत को स्वीकार करनेवाला श्रावक स्थूल झूठ का तो सभी क्षेत्र के लिए त्याग करता है, परन्तु गृहस्थावस्था के कारण वह जिस सूक्ष्म झूठ का त्याग नहीं कर सका है, वह सूक्ष्म झूठ सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है। आगार में रहे हुए सूक्ष्म झूठ के विषय में क्षेत्र की कोई मर्यादा नहीं है, कि इस क्षेत्र के बाहर मैं सूक्ष्म झूठ भी न बोलूँगा। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस विषय की मर्यादा हो जाती है। अर्थात् जो सूक्ष्म झूठ नहीं त्यागा गया है, वह सूक्ष्म झूठ भी केवल उसी क्षेत्र के लिए शेष रह जाता है, जो क्षेत्र गमनागमन के लिए दिक्-परिमाण व्रत में रखा गया है। उसके सिवा शेष क्षेत्र में जाकर सूक्ष्म झूठ बोलने का त्याग हो जाता है।

श्रावक का तीसरा मूलव्रत स्थूल चोरी से निवृत होना है। श्रावक, स्थूल चोरी का त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए करता है, परन्तु सूक्ष्म चोरी सभी क्षेत्र के लिए खुली हुई है। दिक् परिमाण व्रत स्वीकार करने पर वह सूक्ष्म चोरी भी सीमित होकर केवल उतने ही क्षेत्र के लिए रह जाती है, जितना क्षेत्र दिक्परिमाण व्रत में गमनागमन के लिए रखा गया है।

श्रावक का चौथा मूलव्रत स्वदारसन्तोष और परदार विवर्जन है। श्रावक यह व्रत भी स्थूल रूप से ही स्वीकार करता है। क्योंकि गृहस्थावास में रहते हुए श्रावक परदार का त्याग भी स्थूल रूप

से ही कर सकता है, सर्वथा त्रिकरण त्रियोग से नहीं कर सकता।' उसे अपनी सन्तान को अनीति-मार्ग से बचाने के लिए नीति-मार्ग में जोड़ना ही पड़ता है। श्रावक पर-स्त्री का जो त्याग करता है, वह त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए है, परन्तु स्व-स्त्री का जो त्याग नहीं कर सका है, वह स्वस्त्री का सम्बन्ध सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर स्व-स्त्री का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है। यानी मर्यादित क्षेत्र के बाहर जाकर स्वदार के साथ न तो दाम्पत्य व्यवहार कर सकता, न किसी को अपनी पत्नी ही बना सकता है। इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस चौथे व्रत में भी प्रशस्तता आती है।

श्रावक का पाँचवाँ मूलव्रत परिग्रहपरिमाण है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस व्रत में भी प्रशस्तता आ जाती है। क्योंकि दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक मर्यादित परिग्रह का रक्षण-अथवा उसकी पूर्त्ति उसी क्षेत्र में रहकर कर सकता है, जो क्षेत्र उसने दिक्परिमाण व्रत में गमनागमन के लिए रखा है। उस क्षेत्र के बाहर जाकर न तो मर्यादित परिग्रह की रक्षा ही कर सकता है, न उसकी पूर्त्ति के लिए व्यवसाय ही कर सकता है। इसके सिवा जब-तक दिक्परिमाण द्वारा क्षेत्र की सीमा नहीं की जाती, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नहीं होता

और क्षेत्र सीमित न होने से तृष्णा बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक का पाँचवाँ मूलव्रत भी प्रशस्त हो जाता है।

दिक्परिमाण व्रत का श्रावक के पाँचों मूलव्रत पर कैसा सुप्रभाव पड़ता है, यह बताया जा चुका है। अब यह देखते हैं, कि दिक्परिमाण व्रत स्वीकार किस तरह किया जाता है। दिक्-परिमाण व्रत स्वीकार करने के लिए किसी एक स्थान को केन्द्र बना कर, उस स्थान से प्रत्येक दिशा के लिए यह मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं अमुक दिशा में इस स्थान से इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। ऊर्ध्व दिशा के लिए यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए, कि मैं अमुक केन्द्र स्थान से ऊपर की ओर इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। वृक्ष पहाड़ घर महल पर अथवा हवाई जहाज द्वारा या और किसी तरह ऊपर की ओर इतनी दूर से अधिक दूर न जाऊँगा। अधः दिशा के लिए भी यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं केन्द्र स्थल से नीचे की ओर जल, स्थल, खदान, भूमिगृह आदि में इतनी दूर से अधिक नीचा न जाऊँगा। तिर्यक् दिशा पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और ईशान, आग्नेय, नैऋत्य तथा वायव्य के लिए भी ऐसी ही प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं पूर्वादि अमुक दिशा और ईशानादि अमुक विदिशा में केन्द्र स्थल से इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। इस तरह अपने गमनागमन के क्षेत्र

को सीमित बनाने की प्रतिज्ञा का नाम दिक्परिमाण व्रत है, जो ऊपर बताई गई रीति से धारण किया जाता है।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करनेवाले के लिए यह प्रतिबन्ध नहीं है, कि किसी स्थल विशेष को ही केन्द्र बनाया जावे और वहीं से गमनागमन विषयक मर्यादा की जावे। यह बात व्रत स्वीकार करनेवाले की इच्छा और सुविधा पर निर्भर है। व्रत स्वीकार करनेवाला यदि चाहे, तो जहाँ व्रत स्वीकार कर रहा है उसी स्थान को केन्द्र मान सकता है, जहाँ रहता है उस स्थान को केन्द्र मान सकता है, अथवा किसी दूसरे स्थान विशेष को भी केन्द्र मान सकता है। इसी प्रकार वह इस बात के लिए भी स्वतन्त्र है, कि किसी दिशा में आवागमन का क्षेत्र कम रखे और किसी में अधिक।

गमनागमन का परिमाण कोस, मील, हाथ, फुट, इंच के रूप में भी कर सकता है और इस तरह भी कर सकता है, कि मैं अमुक दिशा में अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, पहाड़, नदी, वन आदि से आगे नहीं जाऊँगा। अथवा इस तरह भी कर सकता है, कि मैं माने हुए अमुक केन्द्र स्थल से अमुक दिशा में इतने दिन या इतने समय में पैदल अथवा अमुक वाहन से जितनी दूर तक जा सकूँ, उससे आगे नहीं जाऊँगा। इस प्रकार जिसकी जैसी इच्छा हो, वह उस तरह से दिक्परिमाण व्रत स्वीकार कर सकता है, लेकिन

यह व्रत स्वीकार करते हुए जो व्यक्ति गमनागमन की सीमा जितनी भी कम रखेगा, उसका व्रत उतना ही अधिक प्रशस्त होगा और उसके मूल व्रतों को भी अधिक लाभ पहुँचेगा। इस लिए जहाँ तक सम्भव हो, दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए, मर्यादा में गमनागमन का क्षेत्र कम ही रखना अच्छा है।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए, अपनी स्थिति, आवश्यकता तथा शक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिए, और जीवन-निर्वाह के लिए जितना क्षेत्र गमनागमन के लिए रखना आवश्यक है, उतने क्षेत्र के सिवा शेष क्षेत्र में गमनागमन करने का त्याग करना चाहिए। केवल लालसावश गमनागमन के लिए अधिक क्षेत्र सीमा में रखना उचित नहीं है।

दिक्परिमाण व्रत जीवन भर के लिए ही स्वीकार किया जाता है। केवल अहो रात्रि-या कम समय के लिए की गई गमनागमन की मर्यादा की गणना दसवें व्रत में होगी।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करनेवाले को वृत्ति का संकोच और ममत्त्व का त्याग करना पड़ता है। बिना ऐसा किये इस व्रत की रक्षा नहीं हो सकती। इस व्रत की रक्षा के लिए समय पर व्रत धारी को हानि भी सहन करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए किसी दिक्परिमाण व्रतधारी का कोई वस्त्र या आभूषण-मनुष्य पशु, पक्षी या देव उठा ले गया अथवा पवन से उड़ गया। वह

वस्त्र या आभूषण ऐसे स्थान पर रखा या पड़ा हुआ है, जो उस व्रतधारी द्वारा मर्यादा में रखे गये क्षेत्र से बाहर है। यद्यपि वह व्रतधारी श्रावक अपने उस वस्त्र या आभूषण को पड़ा या रखा हुआ देख रहा है, फिर भी वह उस वस्त्र या आभूषण को लाने के लिए नहीं जा सकता। क्योंकि जिस स्थान पर वस्त्र या आभूषण है, वह स्थान उस व्रतधारी द्वारा मर्यादित क्षेत्र से बाहर है। यह बात दूसरी है, कि वह वस्त्र या आभूषण जिस तरह से गया था उसी तरह, अथवा किसी दूसरी तरह मर्यादित क्षेत्र में आ जावे और वह व्रतधारी श्रावक अपनी उस चीज को ले ले, लेकिन उस चीज को लाने के लिए वह अपनी मर्यादा के क्षेत्र से बाहर कदापि नहीं जा सकता और यदि जाता है, तो वह अपना व्रत तोड़ता है। इस प्रकार इस व्रत का पालन करने में कठिनाइयाँ भी सहनी पड़ती हैं, परन्तु जो उन कठिनाइयों को सहता है, जो अपनी वृत्ति का संकोच करता है और जो ममत्व का त्याग करता है, वही इस व्रत का पालन करने में समर्थ हो सकता है। साथ ही यह भी है, कि जो इस व्रत का पूरी तरह पालन करता है, उसकी वृत्ति भी संकुचित होती जाती है तथा उसमें ममत्व-त्याग की क्षमता भी बढ़ती जावेगी।

दिक् परिमाण व्रत के अतिचार

तीर्थंकर भगवान ने दिक्परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं, जो जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। प्रश्न होता है, कि अतिचार कहते किसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो त्याग किया जाता है, उस त्याग का पालन करते हुए प्रसङ्ग विशेष से परिमाण की धाराओं में परिवर्तन होकर जो स्खलना होती है, उसको सामान्य और विशेष भेद के कारण अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार भागों में विभक्त किया गया है। किसी भी त्यागे हुए कार्य या पदार्थ के विषय में परिणामों में मलिनता आना और उस कार्य या पदार्थ को अपनाने का मन में संकल्प करना, यह अतिक्रम है। उस मन के संकल्प को मूर्त्त स्वरूप देने का प्रयत्न करना—सामग्री जुटाना आदि—व्यतिक्रम कहा जाता है। इस तरह के प्रयत्न में

मूर्छित होना और ऐसा कार्य करना कि जिससे व्रत का भंग समीप हो जाय, अतिचार कहलाता है। और उस त्यागे हुए कार्य को कर डालना, अथवा त्यागे हुए पदार्थ को स्वीकार कर लेना तथा इस तरह व्रत भंग कर डालना, अनाचार है। अतिचार की शुद्धि तो प्रायश्चित्त लेने एवं पुनः व्रत स्वीकार करने से ही होती है, लेकिन अनाचार, अतिचार के पश्चात् होता है, इसलिए भगवान ने अतिचार का रूप बता कर व्रतधारी को इस बात की सावधानी दी है, कि इन अतिचारों को समझ कर इन से बचते रहना चाहिए, अन्यथा कभी अनाचार होना और व्रत का टूट जाना स्वाभाविक है। भगवान ने, आनन्द आदि श्रावकों को सम्बोधन करके प्रत्येक व्रत के अतिचार बताये हैं। इस दिक्परिमाण व्रत के भी भगवान ने, पाँच अतिचार कहे हैं, जिनके नाम ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम, अधः दिशि परिमाणातिक्रम, तिर्यक्दिशि परिमाणातिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि और स्मृतिभ्रंश हैं। व्रतधारी श्रावक के लिए यह आवश्यक है, कि इन अतिचारों को जान कर इनसे बचता रहे।

पहला अतिचार ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम है। ऊर्ध्व दिशा में गमनागमन करने के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस क्षेत्र का जान बूझ कर नहीं, किन्तु अजान में भूल से उल्लंघन हो जाय, वह ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम है।

दूसरा अतिचार अधः दिशि परिमाणातिक्रम है। नीची दिशा के लिए किये गये परिमाण का जान बूझ कर नहीं, किन्तु भूल या असावधानी से उल्लंघन होजाय, वह अधः दिशि परिमाणातिक्रम है।

तीसरा अतिचार तिर्यक्दिशि परिमाणातिक्रम है। तिर्यक् दिशा-पूर्व पश्चिम आदि-के लिए गमनागमन का जो परिमाण किया है, उस परिमाण का भूल या असावधानी से उल्लंघन करना तिर्यक्दिशि परिमाणातिक्रम है।

चौथा अतिचार क्षेत्रवृद्धि है। इस अतिचार का अर्थ यह है, कि एक दिशा के लिए की गई सीमा को कम करके उस कम की गई सीमा को दूसरी दिशा की सीमा में जोड़ कर दूसरी दिशा की सीमा बढ़ा लेना। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति ने व्रत लेते समय पूर्व दिशा में गमनागमन करने की मर्यादा ५० कोस की रखी है। परन्तु कुछ दिनों के अनुभव के पश्चात् उसने सोचा, कि मुझे पूर्व दिशा में ५० कोस जाने का काम नहीं पड़ता है और पश्चिम दिशा में मुझे सीमा में रखी गई दूरी से अधिक जाना है। इसलिए पूर्व दिशा के लिए रखे गये ५० कोस में से कुछ कोस कम करके पश्चिम दिशा की मर्यादा में बढ़ा दूँ। इस तरह सोच कर यदि कोई व्यक्ति अपना मर्यादित क्षेत्र ऊपर बताई गई रीति से बढ़ाता है, तो यह क्षेत्रवृद्धि अतिचार है। यद्यपि ऐसा करने में उसने एक दिशा का क्षेत्र घटा दिया है, फिर भी अतिचार है। क्योंकि

उसको अपना मर्यादित क्षेत्र घटाने का अधिकार तो है, लेकिन दिशा विशेष के नाम पर जो मर्यादा की गई है, उस मर्यादित क्षेत्र में वृद्धि करने का अधिकार उसे नहीं है। इस कारण एक ओर का क्षेत्र घटा कर उसके बदले दूसरी ओर का क्षेत्र बढ़ाना, व्रत की अपेक्षा होने के कारण अतिचार है।

पाँचवाँ अतिचार स्मृतिभ्रंश है। क्षेत्र की मर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे बढ़ जाना, अथवा 'मैं शायद अपनी मर्यादित क्षेत्र की दूरी तक तो चल चुका होऊँगा' ऐसा विचार होने के पश्चात् भी निर्णय किये बिना आगे बढ़ जाना, स्मृतिभ्रंश अतिचार है।

इन पाँच अतिचारों को समझ कर व्रत की रक्षा के लिए इन अतिचारों से बचते रहना चाहिए। ऐसा करनेवाला व्यक्ति ही, दिक्परिमाण व्रत का पूरी तरह पालन कर सकता है और मूल व्रतों में गुण उत्पन्न कर सकता है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

तीन गुण व्रतों में से दूसरा और श्रावक के बारह व्रतों में से सातवाँ व्रत उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत है। दिक्परिमाण व्रत धारण करने के पश्चात् इस सातवें व्रत को धारण करने की क्या आवश्यकता है, यह बताने के लिए कहा गया है, कि पाँच मूल व्रत धारण करनेवाले श्रावक के लिए, उन व्रतों की रक्षा एवं उनकी वृद्धि के उद्देश्य से, वृत्ति का संकोच करना आवश्यक है। वृत्ति का संकोच करने के लिए ही दिक्परिमाणव्रत स्वीकार किया जाता है, लेकिन इस व्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एवं वहाँ के पदार्थादि से ही निवृत्ति होती है, मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों का उपभोग-परिभोग उसके लिए सर्वथा खुला हुआ है। मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की कोई सीमा मर्यादा नहीं है, जिससे जीवन अनियमित रहता है और जिसका जीवन अनियमित है, उसके

मूल व्रत भी निर्मल नहीं रह सकते। इस बात को दृष्टि में रख कर ही यह सातवाँ व्रत बताया गया है। इस व्रत के स्वीकार करने पर, छठे व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है और इस प्रकार वृति का संकोच-होता है।

जीवन-निर्वाह के लिए अथवा शारीरिक सुख के लिए, पदार्थों का सेवन करना उपभोग-परिभोग कहलाता है। जो वस्तु एक ही बार काम में लाई जा सकती है, एक वार काम में आ चुकने के पश्चात् तत्काल या समयान्तर में पुनः काम में नहीं लाई जा सकती, वह चीज उपभोग्य मानी गई है। ऐसी चीज को काम में लेना उपभोग कहलाता है। उपभोग किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार कहते हैं—

उपभोगः सकृद्भोगः सचासनपानानुलेपनादिनां।

टीकाकार का कहना है, कि जो एक वार भोगा जा चुकने के पश्चात् फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना—काम में लेना—उपभोग है। जैसे एक बार जो भोजन खाया जा चुका है, या जो पानी एक वार पिया जा चुका है, वह भोजन पानी फिर खाया पिया नहीं जा सकता। अथवा अंगरचना या विलेपन की जो वस्तु एक वार काम में आ चुकी है, वह फिर काम में नहीं आ सकती। इसी तरह जो जो वस्तु एक बार काम में आ चुकने के पश्चात

फिर काम में नहीं आतीं, उन वस्तुओं को काम में लेना, उपभोग कहलाता है। इसके विरुद्ध जो वस्तु एक बार से अधिक बार काम में ली जा सकती है, उस वस्तु को काम में लेना, परिभोग कहलाता है। परिभोग किसे कहते हैं, इसके लिए टीकाकार कहते हैं—

परिभोगस्तु पुनर्पुनः भोग्यः स चासन शयन वसन वनितादिनां।

टीकाकार कहते हैं, कि जो वस्तु फिर-फिर भोगी जा सके, उसको भोगना, परिभोग है। जैसे आसन, शैया, वस्त्र, वनिता आदि।

उपभोग परिभोग की व्याख्या इस तरह भी की जा सकती है, कि जो चीज शरीर के आन्तरिक भाग से भोगी जा सकती है, उसको भोगना उपभोग है और जो चीज शरीर के बाहरी भागों से भोगी जा सकती है, उस चीज को भोगना परिभोग है। ऐसी उपभोग्य और परिभोग्य वस्तुओं के विषय में यह मर्यादा करना, कि मैं अमुक-अमुक वस्तु के सिवा शेष वस्तुएँ उपभोग परिभोग में नहीं लूँगा, उस मर्यादा को उपभोग परिभोग परिमाणव्रत कहा जाता है। इस उपभोग परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य है, शारीरिक आवश्यकताओं को मर्यादित करना। जिसकी शारीरिक आवश्यकताएँ जितनी अधिक होंगी, उसको अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उतनी ही अधिक प्रवृत्ति करनी पड़ेगी और उतना ही अधिक पाप करना पड़ेगा। इसके विरुद्ध जिसकी आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी, उसे उतनी प्रवृत्ति भी नहीं करनी

पड़ेगी, वह दूसरे धर्म-कार्य के लिए समय भी बचा सकेगा, और अधिक पाप से भी बचा रह सकेगा।

यद्यपि शरीरधारियों के लिए भोजनादि वस्तु का उपभोग परिभोग आवश्यक माना जाता है, लेकिन वह उपभोग परिभोग दो कारणों से होता है। एक तो शरीर की रक्षा के लिए-अनिवार्य आवश्यकता मिटाने के लिए-और दूसरा अनिवार्य आवश्यकता के बिना ही, केवल शारीरिक सुख के लिए। यानी विषयजन्य सुख-प्राप्ति के लिए। इन दोनों कारणों में से, दूसरे कारण से किया जाने वाला उपभोग-परिभोग सर्वथा त्यागना चाहिए और अनिवार्य कारण से किये जाने वाले उपभोग परिभोग, यानी शरीर रक्षा के लिए जो आवश्यक है, उसके लिए यह मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं शरीर रक्षा के लिए केवल अमुक-अमुक पदार्थ का ही उपभोग परिभोग करूँगा, शेष का नहीं। इस प्रकार इस व्रत का उद्देश्य, विषयजन्य सुख के लिए पदार्थों का उपभोग परिभोग यथाशक्ति सर्वथा त्यागना और शरीर-रक्षा के लिये उपभोग परिभोग में लिये जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना है।

उपभोग में आनेवाली वस्तुएँ, प्रधानतः अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चार भागों में विभक्त हैं। जिन वस्तुओं का शरीर-रक्षा के लिए खाना आवश्यक माना जाता है, अथवा क्षुधा मिटाने के लिए जो चीजें खाई जाती हैं, उन चीजों की गणना अशन में है।

अशन से मतलब पूर्ण भोजन है। क्षुधा मिटाने के लिए पूर्ण भोजन में खाये जानेवाले पदार्थ अशन कहलाते हैं।

जो वस्तुएँ दाँतों से चावे बिना ही पी जाती हैं, उन पेय वस्तुओं का पीना 'पान' कहलाता है। जो वस्तुएँ उपभोजन यानी नाश्ता के रूप में खाई जाती हैं, उनकी गणना खाद्य में है और जो वस्तुएँ केवल स्वाद के लिए अथवा मुँह साफ करने के नाम पर खाई जाती हैं, जिनसे पेट नहीं भरता है, क्षुधा शान्त नहीं होती हैं, फिर भी शौक के लिए खाई जाती हैं, उनकी गणना स्वाद्य में है।

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य में विशेषतः कौन-कौनसी चीजें त्याज्य हैं, यह बताते हुए कहा गया है, कि अशन में, आलू, मूला, काँदा, लहसुन और मांस ※ आदि भ्रष्ट पदार्थ त्याज्य हैं। पेय पदार्थों में मंस मदिरा आदि त्याज्य हैं। खाद्य यानी फलादि में

※ श्री रत्नप्रभसूरि ने जब ओसवाल समाज की स्थापना की थी, तब सर्व प्रथम मांस मदिरा का त्याग कराया था। तब से ओसवाल जैन समाज मांसाहारी नहीं है, और अभी भी जाति का यह नियम है कि कोई भी ओसवाल मांसभक्षण या मदिरापान न करे। इस प्रकार वर्तमान समय में जैन धर्मी कहलाने वाले लोगों के घरों में मांस मदिरा का सेवन तो प्रायः नहीं किया जाता है, लेकिन ऐसे लोगों के घरों में भी आज कल ऐसी भ्रष्ट चीजों को काम में लिया जाने लगा है, जो प्रकारान्तर से मांस मदिरा ही हैं। उदाहरण के लिए रोग मुक्त होने के लिए

गूलर, बड़, पीपल, पिलंगू, अंजीर आदि वे फल त्याज्य हैं, जिनमें बीज बहुत होते हैं और त्रसजीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार स्वाद्य में भी वे वस्तुएँ त्याज्य हैं, जो ऊपर बताई गई चीजों से मिलती जुलती हैं। मतलब यह, कि श्रावक को ऐसा अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य सर्वथा त्याग देना चाहिए, जो लौकिक दृष्टि से निन्द्य तथा लोकोत्तर दृष्टि से महापापयुक्त हो और ऐसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य द्वारा ही जीवन का निर्वाह करना चाहिए, जो लौकिक दृष्टि से निन्द्य तथा लोकोत्तर दृष्टि से महापाप पूर्ण न हो। साथ ही जो ऐसा हो, कि जिसके बिना जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता, जो स्वास्थ्य के लिए भी लाभप्रद हो और प्रकृति को सात्विक बनानेवाला हो।

अथवा शरीर को सशक्त बनाने के लिए उन अंग्रेजी दवाइयों को खाना पीना, जो मांस और मदिरा की श्रेणी में हैं। अंग्रेजी दवाइयों में प्रायः भ्रष्ट पदार्थों के सत अथवा शराब आदि का संमिश्रण रहता ही है, और कई दवाइयाँ तो ऐसी होती हैं, कि जिनका नाम यह स्पष्ट निर्देश करता है, कि यह दवा ऐसी है, जो श्रावक के लिए किसी भी दशा में खाने या पीने के योग्य नहीं है। जैसे कॉडलीवर आइल, Codliver Oil हेमोग्लोविन Hœmoglovin बकरे का लीवर Goats Liver और बन्दर का गिलेण्ड Monkeys Glands Etc., आदि। ऐसी भ्रष्ट चीजों का उपयोग विशेषतः आलस्य अथवा परिस्थिति का ज्ञान न करके आरम्भ समारम्भ छोड़ बैठने या उससे बचने के नाम पर होता है, लेकिन इस प्रयत्न में अल्प पाप के बदले महापाप हो जाता है और श्रावक के लिए पहले महापाप ही त्याज्य है।

जैसा आहार-संयम श्रावक के लिए जैनदर्शन में बताया गया है, लगभग वैसा ही आहार-संयम अन्य दर्शनकार भी बताते हैं। जैसे गीता में तीन प्रकार की प्रकृति बताते हुए कहा गया है, कि किस प्रकृतिवाला कैसा भोजन करता है, अथवा कैसे भोजन से कैसी प्रकृति बनती है। सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण का रूप बताकर त्रिगुणातीत होने का उपदेश दिया गया है तथा यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति त्रिगुणातीत नहीं हो सकता है, तो उसके लिए सात्विक प्रकृति की अपेक्षा राजस प्रकृति और राजस प्रकृति की अपेक्षा तामस प्रकृति त्याज्य है। इस प्रकार इस कथन द्वारा उस आहार का भी निषेध किया गया है, जो राजस या तामस प्रकृति बनाने वाला है।

कौनसा भोजन किस प्रकृति का उत्पादक या पोषक है, यह बात ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक बताई गई है। ग्रन्थों में कहा गया है, कि जिससे बल, उत्साह, आयु और सहनशीलता की वृद्धि हो, जो रसमय स्निग्ध स्वादयुत एवं धातुपोषक हो, वह आहार सात्विक है। जो कडुआ, खट्टा, क्षारयुक्त, उष्ण और दाहक हो तथा जो अहंकार की वृद्धि करे, वह आहार राजस है। जो रस-हीन, उच्छिष्ट, बासी तथा बिगड़ा हुआ हो और जो क्रोधादि का उत्पादक हो, वह आहार तामस है।

भोजन से, मन, वाणी और स्वभाव का पूर्ण सम्बन्ध है। जो जैसा भोजन करता है, उसके मन, वाणी और स्वभाव में वैसा ही

सद्गुण या दुर्गुण आता है। व्यवहार में भी कहावत है कि 'जैसा आहार होता है, वैसा विचार, उच्चार और व्यवहार भी होता है।' इस प्रकार आहार पर संयम रखना आवश्यक है और ऐसे आहार से बचे रहना भी आवश्यक है, जो विकृति उत्पन्न करनेवाला है, जिसके लिए महान् पाप हुआ या होता है और जो लोक में निन्द्य माना जाता है।

श्रावक को यथा सम्भव सचित वस्तु भोगने का त्याग करना चाहिए। सचित्त का अर्थ है सजीव, यानी जीव सहित। जिसमें चित शक्ति मौजूद है, उसे सचित कहते हैं, जैसे कच्चा हरा साग, बिना पीसा हुआ या बिना पकाया हुआ अन्न और जिनमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति है, वे बीज। इसी प्रकार बिना पकाया हुआ या असंस्कृत पानी भी सचित है। श्रावक के लिए उचित है, कि जहां तक भी सम्भव हो, ऐसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करना चाहिए, जो सचित हो। यद्यपि ऐसा न करनेवाला श्रावक श्रावकत्व से नहीं गिरता है, लेकिन सचित का त्याग करना, श्रावकत्व को प्रशस्तता देना है। इसलिए जहाँ तक हो सके, श्रावक को सचित्त आहार का त्याग करना चाहिए। सचित का त्याग करने में, श्रावकों को किसी बड़ी कठिनाई का सामना भी नहीं करना पड़ सकता। क्योंकि गृहस्थ श्रावक सब साधन-सम्पन्न होता है, और जब तक उसने आरम्भजा हिंसा को नहीं

त्यागा है, तब तक उसके लिए भोजन पानी पकाने यानी अचित बनाने का भी निषेध नहीं है। बल्कि शास्त्र में भी जहाँ श्रावक के भोजनादि का वर्णन है, वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि—

असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेई उवक्खडावेइत्ता।

अर्थात्—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य निपजा कर यानी बना कर भोगा।

इस प्रकार श्रावक, भोजन पानी आदि को अपने उपभोग में लाने के योग्य बनाने में स्वतन्त्र है। इसलिए श्रावक को अपना श्रावकत्व प्रशस्त करने के लिए जहाँ तक भी सम्भव हो, सचित्त अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करना उचित है।

साधारणतया, श्रावक का खान पान सादा और सात्त्विक ही होना चाहिए। इस उपभोग परिभोग परिमाणव्रत का उद्देश्य भी यही है, कि श्रावक ऐसा ही भोजन पानी अपने काम में ले, जो सादा सात्विक और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हो, तथा ऐसा भोजन पानी आदि त्याग दे, जो विकारी और सात्विक प्रकृति का नाश करने वाला हो। सातवाँ व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को, यह बात दृष्टि में रख कर ही खान पान विषयक मर्यादा करनी चाहिए और जो लोग एक दम से स्वाद के लिए किया जाने वाला या सचित्त खान-पान नहीं त्याग सकते, उनको अपनी शक्ति अनुसार मर्यादा करके अपनी असीम लालसा सीमित

कर देनी चाहिए। लेकिन ऐसे श्रावक का भी ध्येय तो यही रहना चाहिए, कि मैं स्वाद के लिए किया जानेवाला या सचित्त खान पान का पूर्ण त्यागी बनूँ और इस प्रकार इस सातवें व्रत का उद्देश्य पूर्ण करूँ।

खान पान में आनेवाले पदार्थों की तरह उन दूसरे पदार्थों के विषय में भी मर्यादा करनी चाहिए, जो उपभोग में आते हैं। इसी तरह परिभोग में आनेवाले पदार्थों के लिए भी यह मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं अमुक अमुक परिभोग्य वस्तुओं के सिवा दूसरी वस्तुएँ परिभोग में न लूँगा। इस प्रकार की जानेवाली मर्यादा में केवल उन्हीं वस्तुओं की छूट रखना उचित है, जिन का परिभोग जीवन-रक्षा के लिए अनिवार्य है।

परिभोग्य—पदार्थों में उन सब पदार्थों की गणना है, जो शरीर को स्वच्छ, सुन्दर, सुवासित या विभूषित बनाते हैं, अथवा जो शरीर को आच्छादित रखते हैं या शरीर के लिए आनन्ददायी माने जाते हैं। दातुन करना, मुँह धोना, तेल उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्राभूषणपरिधान, पुष्पमाल धारण करना, केशर इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य का विलेपन करना, छाता लगाना, जूता पहनना, रथादि वाहन पर बैठना, आसन शैया का उपयोग करना आदि कामों की गणना परिभोग में है। संक्षेप में, घ्राणेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अनेक बार भोगी जाने-

वाली चीजों को भोगना, परिभोग है। कई वस्तुएँ ऐसी हैं, कि जिनका भोगना उपभोग में भी माना जा सकता है और परिभोग में भी, लेकिन किसी में भी मान कर उन सब वस्तुओं को भोगने का त्याग करना चाहिए, जिनके भोगे बिना भी व्रतधारी अपना कार्य चला सकता है, जीवन निर्वाह कर सकता है; और उन वस्तुओं की मर्यादा करनी चाहिए, जिनका भोगना व्रतधारी अपने लिए अनिवार्य मानता है। यानी यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए, कि मैं उपभोग और परिभोग में आनेवाली वस्तुओं में से अमुक अमुक वस्तु सर्वथा न भोगूँगा, अमुक वस्तु इतनी बार से अधिक बार काम में नहीं लाऊँगा, इतने समय से पूर्व या पश्चात् की बनी हुई चीज का उपयोग नहीं करूँगा, अमुक समय पर ही अमुक वस्तु काम में लूँगा उसके पहले या पीछे काम में न लूँगा, और अमुक वस्तु इतने समय तक ही काम में लूँगा, इस समय के पश्चात् काम में न लूँगा। इस तरह वस्तु के उपभोग और परिभोग के लिए, द्रव्य क्षेत्र और काल से मर्यादा करने का नाम ही उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।

उपभोग और परिभोग में आनेवाली वस्तुओं को, शास्त्रकारों ने २६ बोलों में संग्रह कर दिया है। प्रायः वे सभी उपभोग्य परिभोग्य वस्तुएँ इन २६ बोलों में आ गई हैं, जिनका उपयोग करना जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है। इन २६ बोलों

का आधार मिल जाने से व्रत लेनेवाले को बहुत सुगमता होती है। वह इस बात को समझ जाता है, कि जीवन के लिए प्रधानतः किन किन वस्तुओं का उपभोग परिभोग आवश्यक है, और यह समझने के कारण वह वैसी चीजों को मर्यादा में रखना नहीं भूलता, जिससे उसे किसी समय कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। शास्त्रकारों द्वारा बताये गये वे २६ बोल नीचे दिये जाते हैं।

(१) उल्लणिया विहि परिमाणः—मनुष्य जब प्रातःकाल उठ कर शौचादि से निवृत्त हो हाथ मुँह धोता है, तब उसे गीले हाथ मुँह पोंछने के लिए वस्त्र की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय में ऐसा वस्त्र रूमाल टुवाल आदि कहा जाता है। ऐसे वस्त्र की मर्यादा करना।

कई लोग ऐसा वस्त्र रखना शौक या फेशन में मानते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा वस्त्र जीवन-सहायिका सामग्रियों में से एक है। हाथ मुँह पोंछने के लिए अलग वस्त्र न रख कर पहने हुए कपड़ों से अथवा अस्वच्छ वस्त्र से हाथ मुँह आदि पोंछना हानिप्रद है। ऐसा करने से या तो पहने हुए वस्त्र खराब होते हैं, अथवा मलिन वस्त्र के परमाणु शरीर में प्रविष्ट कर रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिए स्वास्थ्य की दृष्टि से हाथ मुँह आदि पोंछने के लिए एक विशेष वस्त्र रखना उचित है। वह वस्त्र कैसा हो, यह बात

आनन्द श्रावक के वर्णन से प्रकट है। आनन्द श्रावक ने इस सातवें व्रत के सम्बन्ध में जो मर्यादा की थी, उसमें उसने हाथ मुँह पोंछने के लिए ऐसा वस्त्र रखा था, जो रंगीन और सुवासित था तथा जिसके स्पर्श से आलस्य उड़कर स्फूर्ति आती थी।

(२) दन्तवण विहि परिमाणः—रात के समय सोये हुए मनुष्य के मुख में, श्वासोच्छ्वास के वायु द्वारा जो विकारी पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं, उनको साफ करने के लिए दन्तधावन किया जाता है। उस दन्तधावन से सम्बन्धित पदार्थों के विषय में मर्यादा करना दन्तवण विहि परिमाण कहलाता है।

(३) फल विहि परिमाणः—दातुन करने के पश्चात् मस्तक और बालों को स्वच्छ तथा शीतल किया जाता है। ऐसा करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनके सम्बन्ध में मर्यादा करना फल विहि परिमाण कहा जाता है। *

* मस्तक को स्वच्छ तथा शीतल रखने से बुद्धि विकसित होती है और विकार शान्त रहते हैं, लेकिन आजकल के अनेक नवयुवक, मस्तक को स्वच्छ शान्त रखने के लिए शक्तिवर्द्धक फलों के बदले अंग्रेजी सेण्ट तेल आदि ऐसी चीजों का उपयोग करते हैं, जिनसे बुद्धि विकृत होती है, मस्तक अशान्त होता है और विकार उत्तेजित होते हैं। मस्तक को स्वच्छ करने के लिए आँवला त्रिफला आदि फल जैसे उपयोगी माने जाते हैं, वैसे उपयोगी वलायती सेण्ट तेल आदि नहीं हो सकते। बल्कि वलायती सेण्ट आदि चीजें हानिप्रद होती हैं। इसलिए श्रावक को ऐसी चीजें काम में न लेनी चाहिएँ।

(४) अभ्यंगण विहि परिमाणः—त्वचा सम्बन्धी विकारों को दूर करने और रक्त को सभी अवयवों में पूरी तरह संचारित करने के लिए जिन तैलादि द्रव्यों का शरीर पर मर्दन किया जाता है; उन द्रव्यों की मर्यादा करना अभ्यंगण विहि परिमाण है।

(५) उवटण विहि परिमाणः—शरीर पर लगे हुए तेल की चीकट तथा मैल को हटाने और शरीर में स्फूर्ति तथा शक्ति लाने के लिए उवटन (पीठी) लगाया जाता है। उस उवटन के सम्बन्ध में मर्यादा करना।

(६) मज्जण विहि परिमाणः—इस बोल में स्नान-विधि का परिमाण करना बताया है। अभ्यङ्गन और उबटन के पश्चात् स्नान किया जाता है, उसके सम्बन्ध में यह मर्यादा करना, कि इतनी बार से अधिक बार स्नान नहीं करूँगा, अथवा स्नान में अमुक प्रकार के इतने जल से अधिक जल व्यय न करूँगा।

(७) वत्थ विहि परिमाणः—स्नान के पश्चात् वस्त्र परिधान किया जाता है। उन वस्त्रों के विषय में मर्यादा करना कि मैं अमुक-अमुक तरह के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र शरीर पर धारण न करूँगा। इस तरह की मर्यादा में ऐसे वस्त्र रखना ही उचित है, जो लज्जा की रक्षा करनेवाले और शीतोष्णादि से बचाने वाले तो हों, परन्तु विकार पैदा करने वाले न हों।

(८) विलेपण विहि परिमाणः—वस्त्र परिधान के पश्चात्

शरीर पर ऐसे द्रव्यों का विलेपन किया जाता है, जो शरीर को शीतल तथा सुशोभित करने वाले होते हैं। जैसे चंदन केसर कुंकुम आदि। इस तरह के द्रव्य की मर्यादा करना।

(९) पुष्फ विहि परिमाणः—इस बोल में पुष्पों की मर्यादा करने के लिए कहा गया है। मैं अमुक वृक्ष के इतने फूलों के सिवा दूसरे तथा अधिक फूल काम में न लूँगा, ऐसी मर्यादा करना पुष्फ विहि परिमाण है।

(१०) आभरण विहि परिमाणः—शरीर पर धारण किये जानेवाले आभूषणों की मर्यादा करना, कि मैं इतने मूल्य या भार (वजन) के अमुक आभूषण के सिवा और आभूषण शरीर पर धारण न करूँगा। ॐ

(११) धूप विहि परिमाणः—इस बोल में वायु-शुद्धि के लिए की जाने वाली धूप (सुगन्धित द्रव्य जलाना) का परिमाण करना बताया गया है। जिस स्थान पर निवास किया जाता है, स्वास्थ्य की दृष्टि से वहाँ का वायु शुद्ध रहना आवश्यक है और

ॐ शरीर पर आभूषण इसलिए धारण किये जाते हैं, कि शरीर अलङ्कृत भी रहे, और समय पर उन आभूषणों से सहायता भी ली जा सके। लेकिन आज ऐसे आभूषण धारण किये जाते हैं, कि जिनसे यह उद्देश्य पूरा नहीं होता। जो केवल फ़ेशन के लिये पहने जाते हैं जिनका मूल्य अधिक नहीं होता, केवल दिखाऊ होते हैं। श्रावकों को ऐसे आभूषणों से बचना चाहिए।

धूपादि का उपयोग वायु शुद्धार्थ ही किया जाता है, परन्तु इसके लिए भी मर्यादा करना उचित है।

ऊपर जिन विधियों का परिमाण करना बताया गया है, वह उन पदार्थों के लिए है, जिनसे या तो शरीर की रक्षा होती है, अथवा जो शरीर को विभूषित करते हैं। अब नीचे ऐसी चीजों की विधि का परिमाण बताया जाता है, जिनसे शरीर का पोषण होता है, शरीर को बल मिलता है, अथवा जो स्वाद के लिए काम में लाये जाते हैं।

(१२) पेज्ज विहि परिमाणः—जो पिये जाते हैं, उन पेय पदार्थों का परिमाण करना। पूर्व काल में भोजन मध्याह्न में किया जाता था, इस कारण प्रातःकाल के समय कुछ ऐसे पदार्थ पिये जाते थे, जिनसे अजीर्णादि विकार मिट कर क्षुधा की वृद्धि होती है। ❀

❀ आज कल भी कई लोग प्रातःकाल के समय चाय आदि पिया करते हैं, लेकिन यह उन पाश्चात्य देशों की नकल है, जहाँ सर्दी का प्रकोप रहता है। भारत, ऊष्ण देश है। यहाँ के लिए चाय, स्वास्थ्य-वर्द्धक नहीं हो सकती, किन्तु हानि देनेवाली है। यहाँ के लिए प्रधानतः दूध अनुकूल है, परन्तु हमारी असावधानी से दूध के कल्पवृक्ष सूखते जा रहे हैं। हमारी उपेक्षा के कारण भारत का पशुधन नष्ट हो रहा है। भारत में अनेक कत्लखाने खुल गये हैं, फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। हम दुधारू पशुओं की रक्षा न करके उन्हें उन लोगों के हाथों सौंप देते हैं, जो उन्हें कत्ल कर डालते हैं।

(१३) भक्खण विहि परिमाणः—इस बोल में उन पदार्थों का परिमाण करने के लिए कहा गया है, जो भोजन से पहले नाश्ते के रूप में खाये जाते हैं। जैसे मिठाई आदि।

(१४) ओदण विहि परिमाणः—ओदण में उन द्रव्यों का समावेश है, जो विधि पूर्वक अग्नि द्वारा उबाल कर खाये जाते हैं। जैसे चावल, थूली, खिचड़ी, आदि।

(१५) सुप्प विहि परिमाणः—सुप्प में उन पदार्थों का समावेश है, जो दाल आदि के रूप में खाये जाते हैं, और जिनके साथ रोटी या भात आदि खाया जाता है। ‡

(१६) विगय विहि परिमाणः—विगय में वे पदार्थ हैं, जो भोजन को सुस्वादु एवं पौष्टिक बनाते हैं। जैसे दूध, दही, घृत, तेल और गुड़ शक्कर आदि मिठाई। दूध, दही, घृत, तेल और मिठाई, इन पाँच की गणना विगय (विकृति उत्पन्न करने वाले) में है। मधु (शहद) और मक्खन, विशेष विकृत उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए श्रावक को विशेष कारण के बिना इनका उपयोग

‡ आनन्द श्रावक ने सुप्प विहि परिमाण में दाल के बड़े रखे थे, जो खटाई सहित दही मिलाकर आज भी खाये जाते हैं। यदि द्विदल को दही का संयोग मिलने से जीवों की उत्पत्ति सम्भव हो, तो फिर आनन्द श्रावक जैसा धार्मिक व्यक्ति ऐसे बड़े अपने काम में कैसे ले सकता था?

न करना चाहिए। मद्य और मांस महा विगय (बहुत ही विकृति करनेवाले) हैं। इनसे बुद्धि भी भ्रष्ट होती है, और ये त्रस जीवों को घात पूर्वक उत्पन्न होते हैं। अतः ये श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। मांस और मदिरा के दूषण दिखाते हुए कहा है कि—

पंचिन्दिय वह भूय मंसं दुग्गंधम सुइ विभयं।
रक्ख परितुलिअ भक्खणग मामयजयणं कुगई मलं॥

भावार्थ—मांस, पंचेन्द्रिय जीवों के वध का कारण भूत है, दुर्गन्ध और अशुचि का स्थान है, तथा उसका देखना भी घृणोत्पादक एवं कुगति का प्रेरक है।

गृहे वहिर्वा मार्गेवा पर द्रव्याणि मूढधीः।
वधबन्धादिनिर्भीको गृहत्पाच्छिद्य मद्यपः॥

इस श्लोक में कवि ने मदिरा के दोष बताये हैं। श्रावक को ऐसे मांस मदिरा का प्रकट अप्रकट या प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष किसी भी रीति से सेवन न करना चाहिए, किन्तु सर्वथा त्याग करना चाहिए और ऊपर बताई गई पाँच विगय के सेवन की भी ऐसी मर्यादा करनी चाहिए, कि जिसके सेवन से इन्द्रियाँ और मन अनियन्त्रित न हो जावें। इसी प्रकार मधु और मक्खन भी विशेष कारण के बिना उपयोग में न लेने चाहिएं।

(१७) साग विहि परिमाणः—साग में उन पदार्थों की

गणना है, जो भोजन के साथ व्यंजन रूप से खाये जाते हैं। ऊपर पन्द्रहवें बोल में उन दालों की ही प्रधानता है, जो अन्न से बनती हैं। शेष सूखे या हरे साग की गणना साग में है। साग विषयक मर्यादा को साग विहि परिमाण कहते हैं।

(१८) माहुर विहि परिमाणः—इस बोल में मधुर फलों की मर्यादा करना बताया है। आम, जामुन, केला, अनार आदि हरे फल और दाख, बादाम, पिश्ता आदि सूखे फलों की मर्यादा करना माहुर विहि परिमाण है।

(१९) जिमण विहि परिमाणः—इसमें उन पदार्थों की मर्यादा करना कहा गया है, जो भोजन के रूप में क्षुधा-निवारणार्थ खाये जाते हैं। जैसे रोटी, बाटी, पूरी, पराठे आदि।

(२०) पाणी विहि परिमाण:—इसमें पानी की मर्यादा करने को कहा गया है। स्थान नाम या संस्कार भेद से जिसके नाम अलग अलग होते हैं, अथवा द्रव्य संयोग से जिसकी पर्याय पलट गई है, ऐसे पानी की मर्यादा करना पाणी विहि परिमाण है। शीतोदक, ऊष्णोदक, गन्धोदक अथवा खारा पानी, मीठा पानी आदि पानी के अनेक भेद होते हैं। इसलिए पानी के विषय में भी यह मर्यादा की जाती है, कि मैं अमुक प्रकार के पानी के सिवा दूसरा पानी न पियूँगा।

(२१) मुख वास विहि परिमाण:—इस बोल में उन पदार्थों

की मर्यादा करना कहा गया है, जो भोजनादि के पश्चात् स्वाद या मुख-शुद्धि के लिए खाये जाते हैं। जैसे पान, सुपारी, इलायची आदि।

(२२) उवाहण विहि परिमाणः—इसमें उन वस्तुओं की मर्यादा करना बताया गया है, जो पैर में पहनी जाती हैं। जैसे जूता, खड़ाऊँ आदि।

(२३) वाहण विहि परिमाणः—इसमें उन साधनों की विधि का परिमाण करने का कहा गया है, जिन पर चढ़ कर भ्रमण या प्रवास किया जाता है। जैसे घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैलगाड़ी, घोड़ा-गाड़ी, रथ, पालकी, नाव, जहाज आदि।

(२४) सयण विहि परिमाणः—इसमें उन वस्तुओं की मर्यादा है, जो सोने बैठने के काम आती हैं। जैसे पलंग, ढोलिया, खाट, पाट, आसन, बिछौना, मेज, कुर्सी आदि।

(२५) सचित विहि परिमाणः—इसमें सचित यानी जीव सहित ऐसे पदार्थों की मर्यादा बताई गई है, जो बिना अचित बनाये ही खाये जाते हैं और जिनके स्पर्श से मुनि महात्मा बचते हैं। श्रावक, श्रमणोपासक होता है। श्रमणों की सेवा उपासना उन्हें प्रासुक आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर ही की जाती है, और किसी तरह की—यानी शारीरिक—सेवा तो साधु लोग गृहस्थ से कराते ही नहीं हैं। और श्रावक प्रासुक आहार पानी आदि तभी

श्रमण को दे सकता है, जब वह स्वयं अचित भोग रहा हो। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, श्रावक को सचित का सर्वथा त्याग करना चाहिए और यदि ऐसा न कर सके तो सचित की मर्यादा करनी चाहिए।

(२६) दव्व विहि परिमाण:—इस बोल में यह कहा गया है, कि ऊपर के बोलों में जिन पदार्थों की मर्यादा की है, सचित्त और अचित्त पदार्थों का जो परिमाण किया है, उन पदार्थों को द्रव्य रूप में संग्रह करके उनकी मर्यादा करे, कि मैं एक समय में, एक दिन में या आयु भर में इतने द्रव्य से अधिक का उपयोग न करूँगा। जो वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए अलग अलग मुंह में डाली जावेगी, अथवा एक ही वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए दूसरी-दूसरी वस्तु के संयोग के साथ मुंह में डाली जावेगी, उसकी गणना भिन्न भिन्न द्रव्य में होगी। इसलिए जब तक बन सके, श्रावक को रसलोलुप न रहना चाहिए।

ऊपर बताये गये २६ बोलों में पहले के ११ बोल शरीर को स्वच्छ स्वस्थ और सुशोभित बनानेवाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं, मध्य के १० बोल खानपान में आनेवाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं और अन्त के शेष बोल शरीर की रक्षा करनेवाले अथवा शौक पूरा करनेवाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं। इन बोलों में, जीवन के लिए आवश्यक सभी उपभोग्य परिभोग्य पदार्थ आ जाते हैं। इन बोलों

में कई बोल तो ऐसे पदार्थों से सम्बन्धित हैं, जो वर्त्तमान समय के लोगों को आवश्यकता से अधिक जान पड़ते हैं, परन्तु शास्त्र में जो वर्णन है, वह त्रिकालज्ञों द्वारा सामान्य विशेष सभी लोगों को दृष्टि में रखकर किया गया है। व्रत धारण करनेवालों में साधारण लोग भी होते हैं और राजा लोग भी होते हैं। इसीलिए शास्त्र में ऐसी विधि बताई गई है, कि जिससे किसी को कठिनाई में न पड़ना पड़े। शास्त्रकारों ने अपनी ओर से तो सभी बातें बता दी हैं, फिर जिसको जिसकी आवश्यकता नहीं है, वह उसे त्याग सकता है।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य श्रावक के जीवन को मर्यादित तथा सादा बनाना है, और उसकी आवश्यकताओं को इतना कम करना है, कि जिससे अधिक कम करना व्रत लेने वाले श्रावक के लिए सम्भव नहीं है। यह बात दूसरी है, कि कोई श्रावक एक दम से अपनी आवश्यकताएँ न घटा सके और इस कारण उसे व्रत की मर्यादा साधारण से अधिक रखनी पड़े, फिर भी उसका ध्येय तो यही होना चाहिए कि मैं अपना जीवन बिलकुल ही सादा बनाऊँ और अपनी आवश्यकताएँ बहुत ही कम कर दूँ। जो श्रावक एक दम से आवश्यकताओं को नहीं घटा सका है तथा अपना जीवन पूरी तरह सादा नहीं बना सका है, वह यदि इस ओर धीरे धीरे बढ़ता है तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन उसको यह लक्ष्य विस्मृत न करना चाहिये।

श्रावक का यह कर्त्तव्य है, कि जिस तरह वह स्वयं जीवित रहना चाहता है, उसी तरह दूसरे को भी जीवित रहने दे। इस कर्त्तव्य का पालन वही कर सकता है, जिसकी आवश्यकताएँ साधारण हैं, बढ़ी हुई नहीं हैं। जिसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं, वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरे को कष्ट में डाले, अथवा उसकी आवश्यकताओं के कारण दूसरे को कष्ट हो, यह स्वाभाविक है। जब चार आदमियों के निर्वाह योग्य भोजन वस्त्र आदि को एक ही आदमी अपने काम में ले लेगा, तब शेष तीन आदमियों को कष्ट उठाना ही पड़ेगा। यदि सब लोग अपना जीवन सादगी से बितावें, अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ने दें, तो संसार में किसी को उपभोग्य परिभोग्य पदार्थों की ओर से कोई कष्ट नहीं रह सकता। सभी लोगों का जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हो सकता है। लेकिन कुछ लोगों ने अपनी आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ा रखी हैं, कि जिससे एक ही व्यक्ति के कारण हजारों लाखों मनुष्यों को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं से वंचित रहना पड़ता है। एक ओर तो कुछ लोग राजसी कही जानेवाली सुख सामग्री भोगते हैं और दूसरी ओर बहुत से लोग अन्न के बिना त्राहि-त्राहि करते हैं। इस प्रकार संसार में महान् विषमता फैली हुई है, और इस विषमता का कारण है कुछ लोगों का अपनी आवश्यकताएँ अत्यधिक बढ़ा लेना। जो लोग अन्न वस्त्र आदि जीवन के लिए आवश्यक

पदार्थों के न मिलने या कम मिलने से कष्ट पा रहे हैं, उनके लिए वे ही लोग उत्तरदायी हैं, जो ऐसी चीजों का दुरुपयोग करते हैं, अधिक उपभोग करते हैं, अथवा अपने पास संग्रह करके रखते हैं। जिनकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं वे लोग यदि अपनी आवश्यकताओं को घटा दें, उतना ही अन्न वस्त्र आदि काम में लें जितना कि काम में लेना अनिवार्य है और अपने पास ऐसी चीजें अधिक संग्रह न कर रखें, तो दूसरे लोगों को अन्न वस्त्र आदि न मिलने या कम मिलने के कारण कष्ट ही क्यों उठाना पड़े तथा साम्राज्यवाद और साम्यवाद की दलबन्दी में क्यों हो!

वास्तविक बात यह है कि सांसारिक पदार्थों का उपयोग किस लिए होना चाहिए, लेकिन किस लिए किया जाता है या माना जाता है, इस विषय में लोगों से भूल हो रही है। उस भूल के कारण ही लोग अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा लेते हैं, अथवा अधिक से अधिक पदार्थ अपने अधिकार में रखना चाहते हैं। सांसारिक पदार्थों का उपयोग किस लिए है, लेकिन माना किस लिए जाता है, यह बताने के लिए भर्तृहरि कहते हैं—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन्नश्नयति शाकादि वलितान्।

प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं ।
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यतिजनः ॥

अर्थात्—मनुष्य का कंठ जब प्यास से सूखने लगता है, तब वह शीतल सुगन्धित जल पीता है। मनुष्य जब क्षुधा से पीड़ित होता है, तब शाकादि सामग्री के साथ भोजन करता है और जब कामाग्नि प्रदीप्त होती है, तब सुन्दर स्त्री को हृदय से लगाता है। इस प्रकार पानी भोजन स्त्री—अथवा ऐसी ही दूसरी चीजें पृथक् पृथक् व्याधि की औषधियाँ हैं एक एक दुःख मिटाने की दवा हैं—परन्तु मनुष्यों ने इनमें सुख मान रखा है।

इस प्रकार लोगों ने उन पदार्थों में सुख मान रखा है, जिनका उपभोग किसी दुःख को मिटाने के लिए ही किया जाता है और इसी कारण आवश्यकता न होने पर भी उन पदार्थों का उपभोग परिभोग किया जाता है, अथवा ऐसा प्रयत्न किया जाता है, कि जिससे उन पदार्थों का अधिक से अधिक उपभोग परिभोग किया जा सके। यदि ऐसा न हो, तो खाने के लिए पकवान साग और इसी प्रकार अन्य सुस्वादु वस्तुओं की क्या आवश्यकता है! भूख तो साधारण रोटी आदि से भी मिट सकती है। भूख लगने पर रूखी सूखी रोटी भी प्रिय एवं सुस्वादु लगती है। ऐसी दशा में पकवान मिष्टान एवं साग चटनी अचार मुरब्बे या अन्य ऐसे ही पदार्थों की क्या आवश्यकता रहती है! लेकिन लोगों ने खाने पीने में आनन्द मान रखा है। लोग चाहते हैं, कि हम बिना भूख

भी अधिक से अधिक खावें। इस तरह लोग क्षुधा मिटाने के लिए खाने के बदले, रसेन्द्रिय का अधिक से अधिक पोषण करना चाहते हैं और इसीलिए क्षुधा न होने पर भी ऐसी सुस्वादु चीजें खा जाते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद, रोग उत्पन्न करनेवाली अधिक खर्च करानेवाली और अधिक पाप द्वारा तैयार होती हैं। रोग उत्पन्न होने का प्रधान कारण ऐसा खानपान ही है, जो क्षुधा न होने पर भी केवल स्वाद के लिए खाया-पिया जाता है।

स्वाद-लोलुप लोग, स्वाद के लिए अधिक खा पी कर अपना जीवन तक भी नष्ट कर डालते हैं। इसके लिए रोम के एक बादशाह की बात प्रसिद्ध है। कहा जाता है, कि रोम का एक बादशाह स्वादिष्ट पदार्थ खाने पीने का बहुत शौकीन था। वह अपने लिए अनेक प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थ बनवा कर खाता। खाने के पश्चात् वह ऐसी औषध खाता, जिससे वमन हो जाती और फिर खाने के लिए पेट खाली हो जाता। पेट खाली होने पर वह फिर खाता और फिर वमन करता। वह एक दिन में ऐसा कई-कई बार किया करता। परिणाम यह हुआ, कि उसे क्षय रोग हो गया और वह जल्दी मर गया।

रोम के इस बादशाह की बात तो इस कारण प्रसिद्धि में आई कि वह बादशाह था तथा खाने के लिए औषध की सहायता से वमन किया करता था, लेकिन इसी तरह केवल स्वाद के लिए

खाने वाले लोग अजीर्णादि के कारण प्रति वर्ष न मालूम कितने मर जाते हैं, किन्तु उनकी बात प्रसिद्धि में नहीं आती। इस तरह स्वाद के लिए खाना हानिप्रद है, फिर भी बहुत से लोगों ने, अधिक मात्रा में अनेक प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ खाना गौरवास्पद मान रखा है। साधारण जनता भी यही मानती है, कि जो अनेक प्रकार के सुस्वाद भोजन करता है, वही प्रतिष्ठित और सद्भागी है। ऐसा मानने के कारण जनता उस व्यक्ति की निन्दा भी करने लगती है, जो धनवान होकर भी सादगी से जीवन बिताता है और स्वादिष्ट पदार्थ नहीं खाता है। परन्तु वास्तव में वह व्यक्ति निन्दा के योग्य नहीं किन्तु प्रशन्सा के योग्य ही है, जो धनवान होकर भी केवल शरीर-रक्षा के लिए ही भोजन करता है, स्वाद के लिए भोजन नहीं करता। उपासकदशाङ्ग सूत्र में जिन आनन्द आदि दस श्रावकों का वर्णन है, वे श्रावक करोड़ों की सम्पत्ति वाले थे, फिर भी उनने उपभोग परिभोग परिमाण व्रत लेते समय मर्यादा में जीवन निर्वाह की आवश्यक सामग्री के सिवा ऐसी कोई वस्तु न रखी थी, जो स्वाद या विलासिता के लिए हो।

बहुत से लोगों ने जिस तरह भोजन में सुख मान रखा है, उसी तरह वस्त्र में भी सुख मान रखा है। उनकी दृष्टि में, वस्त्र शीत ताप से बचने के लिए नहीं पहने जाते, किन्तु शृंगार के के लिए पहने जाते हैं और इस कारण अधिक एवं मूल्यवान वस्त्र

पहनना और वस्त्रों का अधिक परिवर्तन करना बड़प्पन माना जाता है। इस तरह की धारणा बन जाने से लोग शरीर पर इतने अधिक वस्त्र लाद लेते हैं, कि जो शरीर के लिए बोझ रूप होने के साथ ही स्वास्थ्य नष्ट करते हैं और व्यय बढ़ाने वाले भी होते हैं। साथ ही अपने अधिकार में इतने अधिक वस्त्र संग्रह कर रखते हैं, कि जो पड़े ही पड़े खराब हो जाते हैं, सड़ जाते हैं, या कीड़ों द्वारा खा डाले जाते हैं। इस प्रकार एक ओर तो बहुत से वस्त्र पड़े पड़े नष्ट होते हैं और दूसरी ओर अनेक लोग, शीत ताप से बचने के लिए वस्त्र न मिलने से दुःख पाते तथा मरते हैं।

इस ऊष्ण प्रदेश भारत में अधिक वस्त्र पहनना कदापि आवश्यक या लाभप्रद नहीं है। इस देश में तो केवल लज्जा की रक्षा के लिए अथवा शीतकाल में शीत से बचने के लिए वस्त्र पहनने की आवश्यकता है, लेकिन अधिकान्श लोग आवश्यक वस्त्रों के सिवा और भी बहुत से वस्त्र, केवल अपना बड़प्पन दिखाने के लिए अथवा शीत-देशवासी लोगों का अनुकरण करने के लिये शरीर पर लादे रहते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर को पूरी तरह हवा नहीं लगती, इस कारण शरीर का पसीना रोम कूपों में जम कर सूख जाता है जिससे वायु का संचार रुक जाता है, अथवा वह पसीना वस्त्रों में प्रविष्ट हो कर सूख जाता है, और शरीर के आस पास गन्दगी पैदा कर देता है। इस

प्रकार अधिक वस्त्र पहनना, स्वास्थ्य--विघातक होने के साथ ही, शरीर की त्वचा में शीत ताप या पवन का आघात सहन करने की जो शक्ति है, उस शक्ति का भी विनाशक है और शरीर को दुर्बल रुग्ण एवं अल्पायुषी बनाने वाला है ।

लोगों ने वस्त्र पहनना किसी दुःख से बचने के लिए नहीं, किन्तु शृंगार अथवा वर्त्तमान कालीन सभ्यता का पालन करने के लिए मान रखा है । इस कथन का एक और प्रमाण यह है कि लोगों का मूल्यवान कलापूर्ण एवं महीन वस्त्र पहनना। यदि शीतादि से बचने और लज्जा की रक्षा के लिए ही वस्त्र पहनना माना जाता, तो फिर चित्र विचित्र रंगवाले, अधिक मूल्यवान कलापूर्ण या महीन वस्त्र पहनने की कोई आवश्यकता न होती, किन्तु ऐसे ही वस्त्र पहने जाते, जिनके द्वारा शीत ताप से बचा जा सके, लज्जा की रक्षा हो सके, जो सर्व साधारण को प्राप्त होने योग्य सादे हों और जिनके निर्माण में महा पाप न हुआ हो। इसी प्रकार जो बालक लज्जा को जानते ही नहीं हैं, उनको वस्त्रों से जकड़ कर उनके शारीरिक विकास को भी न रोका जाता। बच्चों को वस्त्र पहनाये जाने का विरोध करते हुए कवि सम्राट रविन्द्रनाथ ठाकुर ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है, कि बच्चों के शरीर पर सिले हुए वस्त्र पहनाना, बच्चों के शारीरिक विकास को रोकना और एक प्रकार से

उनकी हत्या करना है। स्वयं बच्चे भी सिले हुए वस्त्र पहनना पसन्द नहीं करते। बल्कि जब उन्हें वस्त्र पहनाया जाने लगता है, तब वे रोकर वस्त्र पहनाये जाने का विरोध करते हैं, लेकिन यदि भारतियों द्वारा किया गया कोई विरोध अंग्रेज सुनते हों, तो बालक द्वारा किया गया वस्त्र पहनाने का विरोध माता पिता भी सुनें। अर्थात् जिस तरह अंग्रेज लोग भारतियों पर जबरदस्ती करते हैं, उसी तरह माता—पिता बालकों पर जबरदस्ती करते हैं।

मतलब यह कि भोजन और वस्त्र में सादगी का न होना, प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है। जो सादगी से जितना दूर रहता है और फेशन को जितना अपनाता है, वह दूसरे लोगों को उतना ही अधिक दुःख में डालता है। भारत के लोगों की दैनिक आय औसतन डेढ़ या पौने दो आने है। इसलिए जो व्यक्ति जितना अधिक खर्च करता है, वह उतने ही अधिक लोगों को भोजन वस्त्र से वंचित रखता है। जैसे, नव भारतीयों को दैनिक एक रुपया मिलता है। यानी नव आदमियों के हिस्से में एक रुपया आया है। वह एक रुपया ही उन नव-आदमियों के जीवन-निर्वाह का साधन है, लेकिन यदि उन में का कोई एक आदमी बुद्धि बल, शारीरिक बल या द्रव्य बल से उस एक रुपये को आप अकेला ही हड़प लेता है, आप अकेला ही एक दिन में एक रुपया खर्च कर देता है, तो शेष आठ आदमी भूखे रहें यह स्वाभाविक ही है। इस प्रकार जो

भोजन वस्त्र या फेशन शौक के लिए अधिक व्यय करता है, वह दूसरे कई लोगों को भूखों मारने का पाप कमाता है। अपने ऐसे व्यवहार के कारण दूसरे को भूखों मारना, उस दूसरे की हत्या करना ही है। ऐसा करके उन लोगों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न करना है, कि जो लोग भोजन, वस्त्र आदि के बिना कष्ट पाते हैं। कभी-कभी तो भोजन वस्त्र न मिलने के कारण दुःखी लोगों का असन्तोष इतना बढ़ जाता है, उनके हृदय में प्रतिहिंसा की ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है, कि जिससे वे असन्तुष्ट और दुःखी लोग उन लोगों का धन जन नष्ट कर डालते हैं, कि जो लोग अपने रहन सहन में अधिक खर्च करते हैं तथा अन्न वस्त्र के बिना दुःखी लोगों की ओर ध्यान तक नहीं देते। रूस का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है।

लोगों ने जिस तरह भोजन और वस्त्र के अधिक उपभोग में आनन्द एवं गौरव मान रखा है, उसी तरह आभूषण पहनने में भी सुख तथा गौरव मान रखा है। परन्तु विचार करने पर मालूम होगा, कि आभूषण–और ऐसी ही दूसरी चीजें–जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं, किन्तु हानिप्रद हैं। जिन आभूषणों में सुख और शृंगार की वस्तु मान कर पहना जाता है, क्या उनके कारण कभी जीवन नहीं खोना पड़ता? क्या उनकी रक्षा के लिए चिन्तित नहीं रहना पड़ता? और क्या वे शरीर के लिए भार रूप नहीं हैं?

इसी प्रकार जिन नशीली चीजों को आनन्द के लिए सेवन किया जाता है, क्या वे चीजें स्वास्थ्य नष्ट नहीं करतीं? क्या साबुन, क्रीम आदि वस्तुएँ त्वचा में रही हुई प्राकृतिक क्षमता नष्ट करके त्वचा को कमजोर नहीं बनातीं? वास्तव में ऐसी सभी चीजें हानि करने वाली हैं, और इनके उपयोग में किसी प्रकार का सुख भी नहीं है, बल्कि जीवन को दुःखी बनानेवाली हैं, फिर भी लोग ऐसी चीजों में आनन्द मानते हैं और जब वे चीजें प्राप्त नहीं होतीं, तब मनस्ताप करते हैं तथा अपने जीवन का अधिकांश भाग ऐसी चीजों की प्राप्ति के प्रयत्न में ही लगा देते हैं। इस प्रकार आवश्यकताओं के बढ़जाने पर जीवन अशान्त रहता है और सदा हाय-हाय ही बनी रहती है।

सारांश यह कि जिन वस्तुओं का उपयोग किये बिना साधारणतया जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता, उन चीजों को मर्यादा में रख कर—उनका परिमाण करके—शेष चीजों के उपभोग परिभोग का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से-अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित कर लेने से—जीवन बहुत शान्ति से व्यतीत होता है। जीवन में उपभोग्य परिभोग्य पदार्थ सम्बन्धी अशान्ति नहीं रहती। इसके सिवा, 'जो अपना खर्च कम रखता है उसे कमाना भी कम पड़ता है और जो अधिक खर्च रखता है उसे कमाना भी अधिक पड़ता है' इस लोकोक्ति के अनुसार अपना रहन सहन, और खान-पान सादा न रखने पर खर्चीले रहन-सहन एवं खानपान के लिए

अधिक कमाना पड़ेगा, जिससे जीवन में अशान्ति रहना स्वाभाविक है। जिसका जीवन खाने-पीने तथा पहनने ओढ़ने आदि के लिए कमाने में ही लगा रहता है, उसके द्वारा धर्म कार्य कब होंगे! ऐसे व्यक्ति का चित्त आवश्यकता पूर्त्ति की चिन्ता से अस्थिर रहता है, और जिनका चित्त ही अस्थिर है, उसके द्वारा आत्म-कल्याण और परोपकार के कार्य कैसे हो सकते हैं।

उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने से—यानी अपनी आवश्यकताएँ मर्यादित बना लेने से जीवन भी बहुत शान्ति से व्यतीत होता है और मूलव्रतों का विकास भी होता है। यह व्रत स्वीकार करनेवाले का जीवन सादा हो जाता है, जिससे मूलव्रत देदीप्यमान होते हैं, जनता में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है और लोगों की दृष्टि में वह विश्वासपात्र माना जाता है।

मूलव्रत स्वीकार करते समय श्रावक कुछ अव्रत तो दो करण तीन योग से त्यागता है, तथा कुछ कम से। यानी एक करण तीन योग से अथवा एक करण एक योग से भी। इस कारण व्रत में जो कुछ छूट रह जाती है—यानी जो अव्रत शेष रह जाता है—वह दिक्-व्रत धारण करने पर क्षेत्र से और उपभोग परिभोग परिमाणव्रत धारण करने पर द्रव्य से संकुचित हो जाता है। अर्थात् शेष रहे हुए अव्रत सीमित हो जाते हैं, और मूलव्रत प्रशस्त हो जाते हैं। दिक्व्रत और उपभोग परिभोग परिमाणव्रत, मूलव्रतों में गुण उत्पन्न

करके उन्हें देदीप्यमान बनाते हैं। उदाहरण के लिए एक आदमी आम्रफल खाता है और दूसरा आदमी आम्रफल खाने का त्यागी है। इन दोनों में से जिसने आम्रफल खाना त्याग दिया है, उसको यह विचारने की आवश्यकता ही न रहेगी, कि इस वर्ष आम की फसल कैसी है, आम क्या भाव है, अथवा बाजार में आम आते हैं या नहीं! इस प्रकार वह आम विषयक विचारों एवं संकल्प-विकल्प आदि के पाप से बचा रहेगा। इसके विरुद्ध जो आम्रफल खाता है, उसको आम सम्बन्धी अनेक विचार होंगे, वह आम सम्बन्धी चिन्ताओं की परम्परा से घिरा रहेगा और पाप का भागी बनता रहेगा। उपभोग–परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने व न करनेवाले में प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में ऐसा ही अन्तर रहता है। जो उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार कर लेता है, उसका आत्मा चिन्ताओं एवं पाप से बहुत कुछ मुक्त रहता है, और उसे शान्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने पर मूलव्रतों में गुण उत्पन्न होता है, तथा उनमें प्रशस्तता आती है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत के अतिचार

पहले बता चुके हैं, कि उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत दो प्रकार का है। यथा—

उपभोग परिभोग परिमाण वए दुविहे
पन्नत्ते तंजहा भोयणाओय कम्मओय।

अर्थात्:—उपभोग परिभोग परिमाणव्रत दो प्रकार का है, भोजन से और कर्म से।

इन दो प्रकार के उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में से भोजन सम्बन्धी व्रत के पाँच अतिचार बताये गये हैं, † जो जानने योग्य हैं, किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। श्रावक को इन अतिचारों से बचते रहना चाहिए, अन्यथा व्रत में मलिनता आयेगी। श्रावक लोग इन अतिचारों से बचे रह सकें, इसीलिए इनका स्वरूप बताया जाता है।

---

† उपभोग-परिभोग के सभी पदार्थ भोजन में गर्भित समझ लेना। यहां भोजन मुख्य और अन्य को गौण किया है—सम्पादक।

भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचारों में से पहला अतिचार सचित्ताहारे है। सचित्ताहारे का अर्थ है सचित्त पदार्थ का आहार। जिस खान पान की चीज में जीव विद्यमान मौजूद है, च्यवे नहीं उसको सचित कहते हैं। जैसे धान, बीज, पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि। ऐसी चीजें जो सचित हैं, मर्यादा होने पर भी भूल से खाना अतिचार है। इस अतिचार की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं—

कृत सचित्ताहार प्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वाऽना भोगादि प्रत्याख्यानं सचेतनं भक्षयतस्तद्वा प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्तमानस्य।

अर्थात्:—जिस सचित आहार का त्याग किया है, अथवा जिसके सम्बन्ध में कोई मर्यादा विशेष की है, भूल से उस पदार्थ को खाना यह सचित्ताहारे अतिचार है। ❀

❀ अतिचार का मूल पाठ है 'सचित्ताहारे'। इस पाठ पर से व श्री हरिभद्र आवश्यक टीकानुसार यह मतलब भी निकलता है, कि श्रावक को यथा सम्भव ऐसा खान पानादि रखना चाहिए और ऐसी चीजें काम में लेनी चाहिएँ, जो साधुओं के उपयोग में भी आ सकें। क्योंकि श्रावक, श्रमणोपासक है। श्रावक, श्रमण की सेवा उपासना तभी कर सकता है जब उसके पास श्रमण की सेवा उपासना के योग्य आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शैया, संथारा, औषध और घर (मकान) आदि हों। श्रावक के पास ये वस्तुएँ तभी प्रासुक और निर्दोष मिल सकती हैं, जब वह स्वयं ऐसी वस्तुओं का उपयोग करता हो। जो श्रावक ऐसा आहार पानी या

दूसरा अतिचार सचित्त पड़िवद्धाहारे है। वस्तु तो अचित है, परन्तु उस अचित वस्तु को सचित वस्तु से सम्बन्धित रखकर खाना यह सचित प्रतिबद्ध आहार है। जैसे हरे पत्तों के दोने में दूध मिठाई आदि है। दूध या मिठाई तो अचित है, लेकिन हरा

वस्त्र पात्र आदि काम में नहीं लेता है, किन्तु ऐसी चीजें काम में लेता है जो मुनि के काम में नहीं आती, वह श्रावक साधुओं को उनके योग्य चीजें कहाँ से दे सकता है और साधुओं को प्रतिलाभित करके उनकी सेवा भक्ति कैसे कर सकता है ! उदाहरण के लिए, कोई श्रावक कच्चा पानी पीता है, सचित भोजन करता है, वस्त्र भी रंगीन पहनता है, औषधादि भी सचित खाता या रखता है, मकान भी पौषधशाला के रूप में अलग नहीं रखता है, सोने बैठने के लिए बेंत, निवार या रस्सी से बुने हुए बड़े-बड़े पलंग कुर्सी आदि रखता है और पात्र भी धातु के ही रखता है, तब वह साधुओं को ऐसी चीजें कहाँ से देगा, जो साधुओं के लिए उपयोगी हो ! फिर तो साधुओं के लिए ऐसी चीजों की उसे पृथक् व्यवस्था करनी पड़ेगी, लेकिन ऐसा करने पर क्या साधु लोग उन चीजों को ले सकते हैं, जो उन्हीं के लिये लाई या तैयार की गई हो ! साधु लोग वही चीजें ले सकते हैं, जो प्रासुक एषणिक एवं अचित हो और ऐसी चीजें श्रावकों के यहाँ से तभी मिल सकती हैं, जब श्रावक स्वयं भी ऐसी ही चीजें काम में लेते हों। इसलिए श्रावक को उपभोग परिभोग परिमाण व्रत की मर्यादा में ऐसी ही चीजें रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जो साधु मुनिराज के उपयोग में आ सकती हों। साधु लोग श्रावकों से कायिक सेवा तो ले नहीं सकते, इसलिए श्रमणोपासक होने के नाते श्रावक साधुओं की वही सेवा कर सकते हैं, जो साधुओं के संयम में सहायक हो, अन्य क्या सेवा करें। इसलिए श्रावकों को यथा सम्भव

होना सचित है, इसलिए इस तरह का खाना अतिचार है। खाता तो है आम्रफल का निकाला हुआ रस, जो अचित है, लेकिन उसके साथ सचित गुठली भी है, तो ऐसा रस खाना सचित प्रतिबद्धाहार अतिचार है।

तीसरा अतिचार 'अप्पउलि 'ओसहि' भक्खणया' अतिचार है। जो वस्तु पूर्ण पक नहीं है, यानी जो पूरी तरह पकी हुई नहीं है और जिसे कच्ची भी नहीं कह सकते ऐसी अर्द्ध-पक्व चीज खाना तीसरा अतिचार है। यद्यपि ऐसी चीज सचित नहीं है, फिर भी अर्द्ध पकी होने के कारण मिश्र मानी जाती है, और ऐसी चीज शंकास्पद तथा हानि करनेवाली होती है, इसलिए ऐसी चीज का खाना अतिचार है।

कई वस्तुएँ या तो पूरी तरह पक जाने पर ही हानि न करने वाली होती हैं, या पूरी तरह कच्ची रहने पर हो। जो वस्तु न तो

अपना भी रहन सहन साधु मुनिराज की तरह का सादा रखना चाहिए। आज साधु महात्मा को श्रावकों के यहाँ से निर्दोष वस्त्र, पात्र, औषध, भेशज आदि न मिलने के कारण उन्हें पसारी, अत्तार या वस्त्र विक्रेता की दूकानें देखनी पड़ती हैं, जहां संघटादि कई टंटे लगते हैं। इसका कारण श्रावकों का अविवेक ही है। वैसे तो श्रावकों के यहाँ सैकड़ों रुपये की लागत के कपड़े अल्मारियों में भरे रहते हैं, परन्तु साधु के कल्प योग्य वस्त्र उन अल्मारियों में शायद ही मिलेगा। इसलिए श्रावक को 'श्रमणोपासक' शब्द सार्थक करने और बारहवाँ व्रत निपजाने के लिए अपना स्वयं का आचरण सुधारने की बहुत आवश्यकता है।

पूरी तरह पकी हुई है, न पूरी तरह कच्ची है, वह वस्तु शरीर के लिए भी हानि करने वाली होती है। इसलिए भी ऐसी चीजें न खानी चाहिएँ।

चौथा अतिचार दुप्पोलि ओसहि भक्खणया है। जो वस्तु पकी हुई तो है, परन्तु बहुत अधिक पक गई है और पक कर बिगड़ गई है, अथवा जिसको बुरी तरह से पकायी गई है, जिसे पकाने की रीति घृणित है, वैसी वस्तु का खाना दुप्पोलि ओसहि भक्खणया अतिचार है। श्रावक को ऐसी वस्तु न खानी चाहिए।

पांचवाँ अतिचार तुच्छोसहि भक्खणया है। यहाँ तुच्छोषध से मतलब ऐसी चीज से है, जिसमें क्षुधा निवारक भाग कम है और व्यर्थ का भाग अधिक है। श्रावक को ऐसी चीज नहीं खानी चाहिए। जैसे मूँग की कच्ची फली, जिसमें पौष्टिक तत्व बहुत कम होता है और जिसका अधिक खाना भी क्षुधा निवारण के लिए पर्याप्त नहीं होता। ऐसी चीजों का खाना श्रावक के लिए अतिचार रूप है।

उपभोग परिभोग परिमाणव्रत के भोजन सम्बन्धी विभाग के अतिचारों का यह स्वरूप है। श्रावक को ऊपर बताये गये इन पाँच अतिचारों से सदा बचते रहना चाहिए। अब इस व्रत के दूसरे (कर्म) विभाग के सम्बन्ध में कहा जाता है।

यहाँ कर्म का मतलब आजीविका है। आजीविका का प्रभाव

उपभोग परिभोग पर और उपभोग परिभोग का प्रभाव आजीविका पर पड़ता ही है। उपभोग्य परिभोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए आजीविका करनी ही पड़ती है। यानी कोई धन्दा रोजगार करना ही पड़ता है। जिसकी आवश्यकताएँ वढ़ी हुई होती हैं, उसको धन्धे द्वारा अधिक आय करनी पड़ती है, और जिसकी आवश्यकताएँ कम हैं, उसे कम आय करनी पड़ती है, परन्तु गृहस्थ श्रावक को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कोई धन्धा तो करना ही पड़ता है। हाँ यह वात अवश्य है, कि जिसने अपनी आवश्यकताएँ मर्यादित कर दी हैं, वह थोड़ी आय से ही सन्तुष्ट रहता है तथा ऐसी रीति से आजीविका करता है जिसमें पाप का भाग कम और धर्म का भाग अधिक हो। इसके विरुद्ध जिसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं, उसको वहुत आय होने पर भी सन्तोष नहीं होता, तथा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी रीति से भी आजीविका करता है, जिसमें पाप का भाग अधिक हो और जो निषिद्ध हो।

शास्त्र में, श्रावकों के लिए पन्द्रह कार्यों द्वारा आजीविकोपार्जन का निषेध किया गया है। वे पन्द्रह कार्य, पन्द्रह कर्मादान के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रावक, धर्मपूर्वक ही आजीविका कर सकता है। इस कथन का अर्थ यह नहीं है, कि गृहस्थ-श्रावक भीख माँग कर खावे? किन्तु जिस कार्य में महापाप नहीं है, वह कार्य करके आजीविका

चलाना, धर्म की ही आजीविका कहलाती है। यद्यपि आजीविका के लिए किये जानेवाले व्यवसाय में पाप का भाग भी होता है, लेकिन किसी व्यवसाय में पाप का भाग अल्प होता है और किसी में ज्यादा। जिसमें पाप का भाग ज्यादा है उस व्यवसाय द्वारा आजीविका करना पाप की आजीविका है और जिसमें पाप का भाग अल्प होता है, उस व्यवसाय द्वारा आजीविका करना धर्म की आजीविका कहलाती है। यद्यपि गृहस्थ श्रावक के लिए जो धर्म की आजीविका कहलाती है, उसमें पाप का कुछ भाग होने पर भी वह आजीविका उसी प्रकार पाप की आजीविका नहीं कही जाती किन्तु धर्म की आजीविका कही जाती है, जिस प्रकार चन्द्र में थोड़ीसी कालिमा देखने में आती है, फिर भी चन्द्र को काले रंग का नहीं माना जाता है, न यह कहा ही जाता है कि चन्द्रमा काला है। इसी प्रकार जिन कार्यों में पाप का अंश कम है, वे कार्य भी पाप पूर्ण नहीं माने जाते, किन्तु दृष्टिसम होने से धर्मपूर्ण माने जाते हैं। जहाँ श्रावक के आरम्भादि का वर्णन किया जावेगा, वहाँ तो यही कहा जावेगा कि श्रावक आरम्भ समारम्भ करते हैं, लेकिन एकन्दर में श्रावक की गणना धार्मिक में ही होगी। क्योंकि उसने महापाप त्याग दिया है। किसी पर एक लाख रुपये का ऋण हो, उस समय तो वह ऋणी माना जावेगा, लेकिन जिस पर एक लाख रुपये का ऋण था और जिसने उसमें से ९९९९९ रुपया चुका दिया है,

उसको अऋणी कहा जाने में किसी प्रकार आपत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि अभी उसे एक रुपया ऋण चुकाना शेष है, लेकिन एक लाख रुपयों को दृष्टि में रखते हुए एक रुपया कुछ भी नहीं है। उस पर जो एक रुपये का ऋण शेष है, वह नहीं के बराबर माना जावेगा और उसकी गणना अऋणी में होगी। इसी प्रकार श्रावक में पाप तो शेष है परन्तु अल्प पाप है और उसने महापाप त्याग दिया है, इसलिए उसकी गणना धार्मिक में ही होगी। इसीलिए शास्त्र में श्रावकों का वर्णन करते हुए उन्हें ये विशेषण दिये गये हैं—

अप्पारम्भा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया,
धम्माणुया, धम्मिठा, धम्मक्खाई
धम्मप्पलोइया, धम्मपज्जलणा,
धम्मसमुदायारा, धम्मेणचेव,
वितिकप्पेमाणा' विहरंति ।

श्रावक के लिए जिन पन्द्रह कर्मादान का निषेध किया गया है, वे पन्द्रह कर्मादान महापाप पूर्ण होते हैं। इसीलिए श्रावक के वास्ते पन्द्रह कर्मादान निषिद्ध हैं। कर्मादान शब्द 'कर्म' और 'आदान' इन दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका वाक्य है—

कर्मणां उत्कट ज्ञानावरणीयादिनां
पाप प्रकृतिनां आदानानीति कर्मादान ।

यानी गाढ़ कर्मों को ग्रहण करने के कारण भूत महापापपूर्ण होने से, पन्द्रह कार्यों को कर्मादान कहा गया है।

गाढ़ कर्म (पाप) को ग्रहण करने के कारण भूत पन्द्रह कर्मादान इस प्रकार कहे जाते हैं—१ इङ्गाळ कम्मे, २ वण कम्मे, ३ साड़ी कम्मे, ४ भाड़ी कम्मे, ५ फोड़ी कम्मे, ६ दन्त वणिज्जे, ७ लख वणिज्जे, ८ रस वणिज्जे, ९ विस वणिज्जे, १० केस वणिज्जे, ११ जन्त पीलण कम्मे, १२ निलंछण कम्मे, १३ दवग्गीदावणिया कम्मे, १४ सरदहदलाय शोषणया कम्मे, १५ असइजण पोसणया कम्मे।

ये पन्द्रह कर्मादान महान् कर्म बन्ध के हेतु हैं। इनमें से कुछ कर्मादान तो ऐसे हैं, जो लौकिक में भी निन्द्य माने जाते हैं और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है। साथ ही ये कर्मादान परलोक भी बिगाड़ने वाले हैं। नीचे इन पन्द्रह कर्मादानों पर भिन्न-भिन्न प्रकाश डाला जाता है।

१ इङ्गाल कम्मे, यानी अङ्गार कर्म। अंगार कर्म से मतलब है, कोयले बना कर बेंचना और इस प्रकार जीविका चलाना। इस कार्य में छःकाय के जीवों की बहुत विराधना होती है और लाभ कम होता है। कोयले के लिए बड़े-बड़े हरे वृक्ष काट डाले जाते हैं, जिससे वन का प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट होता है। इसके सिवा जो वृक्ष काट डाले जाते हैं, वे यदि न काटे जावें तो उनके

द्वारा मिलने वाला स्वास्थ्य-वर्द्धक पवन भी मिले और सूखने पर लकड़ी भी मिले। आज कल बड़े-बड़े वृक्षों को तो काट डाला जाता है, और घर पर कूँडों में वृक्ष के दो चार पौधे लगा कर उनसे ऑक्सिजन (स्वास्थ्य वर्द्धक पवन) की आशा की जाती है। लेकिन ऐसे कूँडों से कितना ऑक्सिजन मिल सकता है! इसके सिवा ऐसे कूँडों से संसार के सभी लोगों का काम नहीं चल सकता। संसार के लोगों का काम वन के वृक्षों से ही चलता है। वृक्ष, खराब हवा अपने में से खींच कर, उसके बदले अच्छी हवा छोड़ते हैं, जिससे संसार के लोग जीवित रहते हैं। ऐसे उपकारी वृक्षों को कोयले के लिए काट डालना महान् पाप है।

२ वणकम्मे, यानी वन कर्म। जंगल से लकड़ी बांस आदि काट काट कर बेंचने का नाम वन कर्म है। इस कार्य से तत्काल और परम्परा पर बहुत हानि होती है। वन में रहने वाले कई पंचेन्द्रियादि त्रस जीवों का नाश होता है तथा वन का प्राकृतिक सौन्दर्य भी नष्ट होता है। वन द्वारा पशु-पक्षियों को जो आधार मिलता है, वह आधार छूट जाता है। ऐसा अनर्थकारी व्यापार श्रावक के लिए त्याज्य है।

कई लोग जंगल का ठेका ले-लेते हैं और जंगल के वृक्ष काट कर तथा बेंच कर आजीविका करते हैं। इस व्यवसाय की गणना 'वन कम्मे' में ही है। श्रावक के लिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

३ साड़ी कम्मे, यानी साटिक कर्म। बैल-गाड़ी या घोड़ा-गाड़ी आदि द्वारा भाड़ा कमाना, अथवा शकट यानी गाड़ा गाड़ी आदि वाहन बनवा बनवा कर बेंचना या किराये पर देना साड़ी कम्मे है। इस कार्य से परम्परा पर पंचेन्द्रिय जीवों को महान् त्रास होता है, जो महापाप का कारण है। अतः श्रावक को ऐसे कार्यों द्वारा आजीविका न करनी चाहिए।

४ भाड़ी कम्मे, यानी भाड़ी कर्म। जिस तरह इंगाल कर्म और वन कर्म का परस्पर सम्बन्ध है, उसी तरह साड़ी कर्म और भाड़ी कर्म का भी आपस में सम्बन्ध है। साड़ी कर्म में गाड़ा गाड़ी आदि वाहन मुख्य हैं, और भाड़ी कर्म में पशु यानी घोड़े ऊँट, भैंसे, गधे, खच्चर, बैल आदि मुख्य हैं। इस तरह के पशुओं को भाड़े पर देकर उस भाड़े से आजीविका चलाना भाड़ी कर्म द्वारा आजीविका चलाना है। श्रावक, पशुओं द्वारा अपना मर्यादित बोझ तो ढुलवा सकता है, परन्तु बोझ ढोने के लिए दूसरे को पशु भाड़े से देना श्रावक के लिए निषिद्ध है। क्योंकि भाड़े पर लेने वाले लोग, अपने लाभ के सन्मुख पशुओं की दया की उपेक्षा कर डालते हैं।

५ फोड़ी कम्मे, यानी फोड़ी कर्म। हल, कुदाली, सुरंग आदि से पृथ्वी को फोड़ना और इसमें से निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु आदि खनिज पदार्थ को बेंचना फोड़ी कर्म है। अथवा

जमीन खोदने का ठेका लेकर जमीन खोदना और इस प्रकार आजीविका करना फोड़ी कर्म द्वारा आजीविका करना है। श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है।

कई लोग कृषि कर्म को भी फोड़ी कर्म में मानते हैं और कहते हैं, कि खेती करने में हल द्वारा भूमि खोदनी पड़ती है, इसलिए खेती करना भी फोड़ी कर्म है। परन्तु यह कथन गलत है। खेती करना फोड़ी कर्म नहीं है। आजीविकार्थ खनिज पदार्थ निकालने के लिए भूमि खोदना फोड़ी कर्म है, खेती के लिए भूमि खोदना फोड़ी कर्म नहीं है। यदि कृषि कर्म की गणना फोड़ी कर्म में होती, तो आनन्द आदि श्रावक खेती कैसे कर सकते थे। भगवती सूत्र में भगवान का कथन है, कि मेरे श्रावक कर्मादान के त्रिकरण से त्यागी होते हैं, और आनन्द श्रावक का श्रावकपना भगवान ने स्वीकार किया है। ऐसी दशा में यदि कृषि कर्म की गणना फोड़ी कर्म अथवा कर्मादान में होती, तो आनन्द-तथा दूसरे-श्रावक खेती न करते और यदि करते रहे तो उनकी गणना आदर्श श्रावकों में न होती, न भगवान उनका श्रावकपना ही स्वीकार करते। आनन्द श्रावक खेती करता था, यह बात शास्त्र में स्पष्ट है। आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि आनन्द श्रावक ने भूमि से उत्पन्न अन्न आदि ढोने के लिए पाँच सौ गाड़े मर्यादा में रखे। इस विषय में टीकाकार कहते हैं:—

संवाहनं क्षेत्रादिभ्य स्तृण काष्टधान्यादिगृहा-
दावानयनं तत्प्रयोजनानि संवाहानिकानि।

इन सब बातों से स्पष्ट है, कि आनन्द श्रावक खेती करता था, अन्यथा खेती से उत्पन्न अन्न ढ़ोने के लिए पाँच सौ गाड़े मर्यादा में क्यों रखता। इस प्रकार यह सिद्ध है, कि कृषिकर्म की गणना फोड़ी कर्म में नहीं है।

ये पाँच कर्म हुए। अब पाँच निषिद्ध वाणिज्य बताये जाते हैं जिनकी गणना पन्द्रह कर्मादान में है।

६ दन्तवणिज्जे, यानी दाँत का व्यापार। हाथी दाँत लाने वाले लोगों से दाँत ख़रीद कर वेंचना दन्तवाणिज्य है। ऐसे लोगों को यदि दांत लाने का आर्डर दिया जावेगा, उनसे दांत लेने का सौदा किया जावेगा, अथवा उनके लाये हुये दांत खरीदे जावेंगे, तो वे लोग हाथियों को मार कर दांत लावेंगे यह स्वभाविक है। इसलिए श्रावक के लिये ऐसा वाणिज्य त्याज्य है।

दन्तवाणिज्य में उपलक्षण से शंख, हड्डी अथवा ऐसी ही उन दूसरी चीजों के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है जो इसी श्रेणी की होती हैं और त्रस जीवों की हिंसा द्वारा प्राप्त की जाती हैं।

७ लक्खवाणिज्जे, यानी लाख का व्यापार है। लाख, वृक्षों का रस (मद) है। लाख निकालने में त्रस जीवों की बहुत हिंसा

भी होती है, और लाभ भी अधिक नहीं होता। इसलिए श्रावक के लिये ऐसा व्यवसाय त्याज्य है।

८ रस वाणिज्जे, यानी रस का व्यापार है। यहां रस से मतलब मदिरा है। जो पदार्थ मनुष्य को उन्मत्त बना देते हैं, जिन पदार्थों के सेवन से बुद्धि नष्ट होती है, उन पदार्थों की गणना मद यानी मदिरा में है। ऐसे पदार्थों का सेवन करने वाला मनुष्य अनर्थ कर डालता है। मदिरा के सेवन से कैसे २ अनर्थ होते हैं, यह बताने के लिए कहा गया है कि—

बालिकां युवतीं वृद्धां, ब्राह्मणीं स्वपचामपि ।
भुंक्ते परस्त्रियं सद्यो मद्योन्मादकदार्थितः ॥ १ ॥
विवेकः संयमोज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमाः ।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृणंवह्नि कणादपि ॥ २ ॥

अर्थात्—मदिरा पीकर उन्मत्त बना हुआ मनुष्य, बालिका, युवती, वृद्धा, ब्राह्मणी या भंगिन आदि का विचार भूल कर पर-स्त्री भोगता है। मदिरा पीने वाले का विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया और क्षमा उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार आग पड़ने पर घास का पूँज जल जाता है।

इन बातों को दृष्टि में रख कर ही श्रावक के लिये रसवाणिज्य त्याज्य बताया गया है।

शकर, गुड़, घृत, तेल, दूध, दही आदि के व्यापार को रस वाणिज्य में बताना असंगत है। रसवाणिज्य किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि:—

रसवाणिज्य सुरादि विक्रयः ।

इसमें सुरा (मदिरा) तथा ऐसी ही दूसरी चीजों के वेंचने को रस वाणिज्य में बताया गया है, दूध, दही आदि वेंचने को नहीं। गुड़, घृत, दूध, दही आदि पदार्थ मनुष्य के लिए हितकारी हैं और जीवन को पुष्टि देने वाले हैं। इसलिए इनका व्यवसाय इस कोटि का निन्द्य अथवा त्याज्य नहीं है।

९ विसवाणिज्जे, यानी विष का व्यापार है। अफीम, संखिया आदि जीवन नाशक पदार्थों की गणना विष में है। जिनके खाने या सूंघने से मृत्यु हो जाती है, ऐसे विषैले पदार्थों का व्यवसाय हानिप्रद है, इसलिए श्रावक ये व्यवसाय न करें। लौकिक में भी ऐसे विष पदार्थ के क्रय विक्रय पर सरकार का नियन्त्रण रहता है, और यदि कोई व्यक्ति विष खाकर मर जाता है अथवा किसी दूसरे को मार डालता है, तो जिसके यहां से वह विष खरीदा गया है वह व्यापारी भी न्यूनाधिक अंश में अपराधी माना जाता है।

१० केसवाणिज्जे, यानि केश-व्यापार है। यहाँ केश

वाणिज्य से मतलब सुन्दर केश वाली दासियों का क्रय विक्रय करना है। पूर्व समय में अच्छे केश वाली स्त्रियों का क्रय विक्रय होता था, और ऐसी स्त्रियाँ दासी बना कर भारत से बाहर युनान आदि देशों में भी भेजी जाती थीं। प्राचीन काल में दासियों का क्रय विक्रय राज्य का अपराध नहीं माना जाता था इससे भारत में भी दासियों का व्यापार होता था। इसका प्रमाण है, कौशाम्बी में सती चन्दन बाला का और काशी में महारानी तारा का क्रय विक्रय होना। यह व्यवसाय निन्द्य है, इसलिए श्रावक इस तरह के व्यवसाय द्वारा आजीविका न करे।

आज कल के लोगों ने सरकारी कायदे से विवश होकर दास दासी का क्रय विक्रय चाहे त्याग दिया हो, लेकिन जहाँ तक सुना जाता है, आज कल दास दासी के क्रय विक्रय का स्थान वर कन्या के क्रय विक्रय ने ले लिया है। इस मानव विक्रय की प्रथा के कारण स्वरूप हैं धनिक लोग। कन्या के बदले में या वर के बदले में द्रव्य वे ही लोग देते हैं अथवा दे सकते हैं, जिनके पास द्रव्य है। धनिकों को जब तीसरी चौथी पत्नी बनाने के लिये किसी की कन्या की आवश्यकता होती है, तब वे रुपये के बल से किसी गरीब की कन्या खरीदते हैं। पहले या दूसरे विवाह के समय तो धनिक लोग गरीबों से घृणा करते हैं, उनकी लड़की लेने की बातचीत करना भी अपमान की बात समझते हैं और धनवान

की लड़की लेना ही पसन्द करते हैं, लेकिन दूसरे तीसरे या चौथे विवाह के समय जब कि आयु अधिक हो जाने के कारण कोई धनिक अपनी कन्या नहीं देता है तब गरीब से जातोय समता का सम्बन्ध बता कर और उन्हें प्रलोभन में डाल कर यानी रुपये देकर उनकी कन्या ले लेते हैं। यही बात वर विक्रय की है। धनिक लोग, अपने लड़के को एक प्रकार से नीलाम पर चढ़ा देते हैं और जो अधिक धन देना स्वीकार करता है, उसी की कन्या से अपने लड़के का विवाह करते हैं। धनिकों के इस वर कन्या के क्रय विक्रय से समाज में बहुत ही विषमता उत्पन्न हो गई है, जो दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। ऐसे व्यवहार के कारण समाज में एक ओर तो बहुत से गरीब, लड़की न मिलने के कारण अविवाहित रह जाते हैं और दूसरी ओर विधवाओं की संख्या बढ़ जाती है। यदि समाज के लोग मिल कर इसके लिए कोई नियम बनावें, तो यह मानव विक्रय की प्रथा भी नष्ट हो सकती है और इस प्रथा के कारण होने वाला अनिष्ट भी रुक सकता है। भगवान ने जब दास दासी का क्रय विक्रय भी त्याज्य बताया है और राजकीय व्यवस्था से भी दास दासी का क्रय विक्रय निषिद्ध है, तब वर कन्या का बेंचना उचित कैसे हो सकता है! यह बात तो बहुत लोगों के अनुभव की ही होगी, कि जिस कन्या के बदले में रुपया ले लिया जाता है, उस कन्या

रुपया देने वाले की दृष्टि में एक गृहिणी या कुल वधु की सी प्रतिष्ठा नहीं रहती, किन्तु उसको ठीक मोल ली हुई दासी की तरह ही माना जाता है। इसलिए श्रावक को इस तरह का व्यवसाय कदापि न करना चाहिए। *

कई लोग केसवणिज्जे में ऊन या ऊनी वस्त्र का व्यवसाय भी बताते हैं, लेकिन ऊन या ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को केशवाणिज्य में बताना असंगत है। टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि केशवाणिज्य किसे कहते हैं।

ये पाँच प्रकार के व्यापार निषिद्ध हैं। अब आगे पाँच प्रकार के और निषिद्ध कर्म बताये जाते हैं।

११ जंत पीलणिया कम्मे, यानी यन्त्र द्वारा पीलने का कर्म। कोल्हू द्वारा तिल या गन्ना आदि का तेल या रस निकालने का धन्धा करना जंत पीलणिया कम्मे कहा जाता है। श्रावक को इस धन्धे द्वारा आजीविका न करनी चाहिए। क्योंकि इस धन्धे में अनेक त्रस जीवों की हिंसा का सम्भव है।

---

* आजकल अनेक लोग वर-कन्या क्रय विक्रय की दलाली करते हैं, तथा ऐसा कार्य करते हुए भी स्वयं को जैन धर्माभिमानी कहते हैं। लेकिन वास्तव में ऐसा व्यक्ति जैन धर्म को बदनाम करने वाला है। जो वस्तुतः जैन धर्माभिमानी है, वह ऐसे निन्द्य कार्य द्वारा कदापि आजीविका नहीं कर सकता।

जन्त पीलणिया कम्मे का रूप बताते हुए टीकाकार ने तेल या रस निकालने के लिये कोल्हू चला कर आजीविका करना ही बताया है। इससे स्पष्ट है, कि उस समय भारत में यन्त्र के नाम पर केवल गन्ना या तिल पीलने के देशी कोल्हुओं का ही प्रचलन था, और कोई यन्त्र अस्तित्व में न थे। अन्यथा टीकाकार उनका भी उल्लेख करते ही। पूर्व समय में जब कि भारत आधुनिक यन्त्रवाद से बचा हुआ था, तब यह देश बहुत सम्पन्न था और लोगों का जीवन शान्ति पूर्वक व्यतीत होता था। उस समय भारत का धन भी विदेशों को नहीं जाता था, तथा श्रमजीवी लोगों के लिए श्रम करने का क्षेत्र भी विस्तृत रहता था। इस कारण किसी को भूखों भी न मरना पड़ता था, और लोगों का जीवन भी स्वावलम्बी था। लेकिन जब से भारत में यन्त्रवाद का प्रचार हुआ है, तब से कुछ थोड़े से लोग तो अवश्य धनवान बने होंगे, लेकिन साधारण लोग आजीविका-हीन निरुद्यमी और परावलम्बी हो गये हैं। संसार में नङ्गों भूखों की संख्या यन्त्रवाद ने ही बढ़ाई है। इस प्रकार यन्त्र-वाद के आधिक्य से भारत का धन विदेशों में जा रहा है, और भारत दिन प्रतिदिन कंगाल तथा पतित होता जा रहा है। यन्त्र-वाद से होने वाली ऐसी हानियों को दृष्टि में रखकर ही भगवान ने इस व्यवसाय को कर्मादान में बताया है।

कोई कह सकता है, कि यदि गन्ना या तिल (जिसमें से

तेल निकलता है) पीलना कर्मादान में है, तब कोई कृषक जैन धर्म कैसे स्वीकार कर सकता है ! क्योंकि कृषक गन्ने की भी कृषि करता है, तथा तिल की भी। इसलिए उसके लिए कोल्हू की सहायता लेना आवश्यक है ! इस प्रकार के कथन का उत्तर यह है, कि अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए कोल्हू का उपयोग करने में और कोल्हू का धन्धा करने में बहुत अन्तर है। भगवान् ने कोल्हू के धन्धे को ही कर्मादान में बताया है।

१२ निर्लंछण कम्मे, यानी पशुओं को खसी (नपुंसक) करके आजीविका करना है। श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है। इस व्यवसाय से पशुओं को दुःख भी होता है और उनकी नस्ल भी खराब होती है।

१३ दवग्गीदावणिया कम्मे, यानी वन दहन करना है। भूमि साफ करने में श्रम न करना पड़े, इसलिए बहुत से लोग आग लगा कर भूमि के ऊपर का जङ्गल जला देते हैं और इस प्रकार भूमि साफ करते या कराते हैं तथा इस प्रकार आजीविका करते हैं। लेकिन इस कार्य से बहुत जीवों की हिंसा होती है, इसलिए श्रावक के लिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

१४ सर दह तलाव सोसणिया कम्मे, यानी तालाब नदी आदि के जल को सुखाना। कई लोग तालाब नदी आदि का पानी सुखा कर वहाँ की भूमि को कृषि करने योग्य बनाने का धन्धा किया

करते हैं। इस धन्धे के कारण जल में रहने वाले जीव मर जाते हैं, इसलिए श्रावक के वास्ते ऐसा धन्धा त्याज्य है।

१५ असइजण पोसणिया कम्मे, यानी असतियों का पोषण करके उनके द्वारा आजीविका चलाना। कई लोग कुल्टा स्त्रियों का इसलिए पोषण करते हैं, कि उनसे व्यभिचार कराकर द्रव्य प्राप्त किया जावे। यह धन्धा महान् पापपूर्ण एवं निन्द्य है, इसलिए श्रावकों के लिए सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर बताये गये दस कर्म और पाँच वाणिज्य, ये पन्द्रह कर्मादान हैं। श्रावक के लिए ये पन्द्रह कर्मादान सर्वथा त्याज्य हैं। कोई कह सकता है, कि 'संसार में ऊपर बताये गये व्यवसाय तो होते ही हैं, और यदि श्रावक न करें तब भी ये व्यवसाय होंगे ही, फिर श्रावकों को इन व्यवसायों द्वारा होने वाले लाभ से क्यों वंचित रखा जाता है! बल्कि यदि ये कार्य श्रावक करेंगे, तो अन्य लोगों की अपेक्षा श्रावक लोग कुछ तो पाप टालेंगे ही।' इस प्रकार के कथन का उत्तर यह है, कि वैसे तो संसार में सभी पाप होते हैं, लेकिन इस कारण यह युक्ति संगत नहीं हो सकती, कि श्रावकों के न करने पर भी वे पाप तो होंगे ही, इसलिए श्रावकों को उन कामों के लाभ से क्यों वंचित रखा जावे! संसार में पाप होते हैं, इसी कारण श्रावकों को पाप से बचने का उपदेश दिया जाता है। श्रावकों के न करने पर भी पाप पूर्ण कार्य तो होते ही

हैं, इस बात को दृष्टि में रखकर यह विधान नहीं किया जा सकता कि पाप करना चाहिए। कोई पापपूर्ण कार्य संसार में चाहे किसी भी रूप में होता हो, श्रावक को तो वैसे कार्य से बचने का ही उपदेश दिया जायगा। यह नहीं हो सकता, कि संसार में वह पाप-कार्य होता है, इसलिए उसे अनिषिद्ध माना जावे। उदाहरण के लिए संसार में मांस का व्यवसाय होता ही है, लेकिन क्या इस कारण श्रावकों के लिए मांस का व्यापार निषिद्ध न होना चाहिए? जो कार्य पाप है, निन्द्य है; श्रावक को उससे बचने के लिए ही उपदेश दिया जावेगा, फिर वह कार्य संसार में कितना ही फायदेमन्द क्यों न होता हो! इसी के अनुसार पन्द्रह कर्मादान में बताये गये कार्य संसार में कितने भी क्यों न होते हों, लेकिन श्रावक को वे कार्य कदापि न करने चाहिएँ। क्योंकि वे कार्य महान् पाप द्वारा होते हैं। ये कार्य यदि बिलकुल ही बन्द हो जावें, तो इनके बन्द होने से संसार के लोगों का कोई काम नहीं रुक सकता। उदाहरण के लिए यदि कोई आदमी कोयला बनाकर बेंचने या जङ्गल से लकड़ी काट कर बेंचने का धन्धा न करे अथवा किसी से न करावे, तो इससे संसार के लोगों का क्या काम रुक सकता है! जिसे लकड़ी या कोयले की आवश्यकता होगी, वह स्वयं अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है। कर्मादान में बताये गये व्यवसायों में जितना अधिक पाप होता है, उतना अधिक आर्थिक लाभ भी नहीं होता।

इसके सिवा ये व्यवसाय, प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट करने वाले एवं जनता को प्राकृतिक लाभ से वंचित रखने वाले भी हैं। उदाहरण के लिए किसी आदमी ने जङ्गल की लकड़ी का ठेका लिया। वह अपने ठेके के जंगल में से अधिक से अधिक लकड़ी काटेगा, जिससे उस जंगल का सौन्दर्य भी नष्ट होता है तथा वृक्षों के कट जाने से जनता को उतना ऑक्सिजन भी नहीं मिल सकता, जितना ऑक्सिजन कि वृक्षों के रहने पर मिल सकता है। इन सब बातों को दृष्टि में रख कर, श्रावकों को महान पाप से बचाने एवं उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठता प्राप्त कराने के लिए ही भगवान ने श्रावकों के लिये कर्मादान में बताये गये कार्य निषिद्ध कहे हैं। कर्मादान में बताये गये व्यवसाय करने वाला समाज की दृष्टि में भी प्रतिष्ठित नहीं माना जाता।

पन्द्रह कर्मादान का त्याग, श्रावक के मूल व्रतों में गुण उत्पन्न करने वाला होने के साथ ही बुद्धि को निर्मल तथा चित्त में समाधि रखने वाला है और आत्मा को कल्याण की ओर बढ़ानेवाला है। इसलिए श्रावक को इन पन्द्रह कर्मादान का त्याग करना चाहिए। इनके द्वारा आजीविका न करनी चाहिए।

पन्द्रह कर्मादान, सातवें व्रत के अतिचारों में हैं। सातवें व्रत के २० अतिचार हैं जिनमें से १५ अतिचार १५ कर्मादान ही कहाते हैं और इन से पहले पाँच अतिचार दूसरे बताये गये हैं। श्रावक को इन २० अतिचारों से बचते रहना चाहिए।

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से आँठवें और तीन गुण व्रत में से तीसरे व्रत का नाम "अनर्थ दण्ड विरमण व्रत" है। अनर्थ दण्ड किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार कहते है:—

अर्थः प्रयोजनम् गृहस्थस्य क्षेत्र वास्तु धन धान्य शरीर परिपालनादि विषयं तदर्थं आरम्भो भूतोपमर्दोऽर्थ–दण्डः। दण्डो–निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थ-दण्डः सचैवं भूत उपमर्दन लक्षणो दण्डः क्षेत्रादि प्रयोजनम पेक्षमाणोऽर्थ–दण्ड उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थ दण्डः।

अर्थात्—अर्थ यानी प्रयोजन। गृहस्थ को खेत, घर, धन, धान्य या शरीर पालन आदि कामों के लिए आरम्भ द्वारा भूतोपमर्दन करना पड़ता है, वह भूतोपमर्दन अर्थ दण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चार प्रर्याय हैं। किसी कार्य से, यानि प्रयोजन से दिया गया दण्ड अर्थ दण्ड है और दण्ड का लक्षण है भूतों का उपमर्दन यानि खेत घर आदि के सिलसिले में भूतों (जीवों) का उपमर्दन अर्थ दण्ड है और इसके विपरीत अर्थात् विना किसी प्रयोजन के निष्कारण ही भूतों का उपमर्दन अनर्थ दण्ड है।

टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि अर्थ दण्ड किसे कहते हैं और अनर्थ दण्ड किसे कहते हैं। टीकाकार द्वारा बताये गये किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ समारंभ में त्रस और स्थावर जीवों को जो कष्ट होता है वह अर्थ दण्ड है और निष्कारण ही बिना किसी कार्य के केवल हास्य कौतूहल अविवेक या प्रमाद वश जीवों को कष्ट देना अनर्थ दण्ड है। जैसे कोई आदमी हाथ में कुल्हाड़ी लिये जा रहा है। उसने चलते चलते निष्कारण ही किसी वृक्ष पर कुल्हाड़ी मार दी। अथवा कोई आदमी हाथ में कुदाली लिए जा रहा है। उसने व्यर्थ ही जमीन पर कुदाली मारदी। इसी तरह किसी के हाथ में लकड़ी होने से बैठे हुए जानवर पर मारदी तो यह अनर्थ दण्ड है। इस तरह के अनर्थ दण्ड से निवृत होना, ऐसे अनर्थ दण्ड को त्यागने की प्रतिज्ञा करना, अनर्थ दण्ड विरमण व्रत है।

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत स्वीकार करने का उद्देश्य यह है, कि श्रावक ने मूल व्रत स्वीकार करते समय जिन बातों की छूट रखी है, जिन बातों का आगार रखा है, उस छूट का उपयोग करने में अर्थ अनर्थ यानि सार्थक और निरर्थक का अन्तर समझ कर निरर्थक उपयोग से बचना। मूल व्रत स्वीकार करते समय जो छूट रखी गई है, उन छूट यानि आगारों को दिक् परिमाण व्रत स्वीकार करके क्षेत्र से मर्यादित किया जाता है। उपभोग परिभोग

परिमाण व्रत स्वीकार करके पदार्थ से मर्यादित किया जाता है और अनर्थ दण्ड विरमण व्रत उन छूटों को क्रिया यानी कार्य के अविवेक से मर्यादित करता है। दिक् परिमाण व्रत से यह मर्यादा की जाती है, कि मैं इस सीमा के भीतर ही छूट का उपयोग करूंगा, इस सीमा के बाहर छूट का उपयोग न करूँगा। उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में यह मर्यादा की जाती है, कि मैं मूल व्रत में रखी गई छूट का उपयोग इन पदार्थों के सम्बन्ध में ही करूँगा, इन पदार्थों के सिवा और किसी पदार्थ के सम्बन्ध में छूट का उपयोग न करूंगा, और उन पदार्थों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले व्यवसायों में से अमुक–अमुक व्यवसायों में (जो पन्द्रह कर्मादान कहे जाते हैं) छूट का उपयोग न करूंगा। यानी ये व्यवसाय न करूंगा। अनर्थ दण्ड विरमण व्रत द्वारा यह मर्यादा की जाती है, कि मैं छूट का निरर्थक उपयोग न करूंगा। इस प्रकार अनर्थ दण्ड विरमण व्रत का उद्देश्य अर्थ अनर्थ को जान कर अनर्थ से बचना है। निष्कारण ही किसी त्रस या स्थावर जीवों को कष्ट देने से बचना है। अर्थात् यह कार्य मेरे लिए आवश्यक है या नहीं, इस बात का विवेक करके उन कार्यों से बचना है, जिनके किये बिना अपनी कोई आवश्यकता नहीं रुकती है और जिन के करने से किन्हीं जीवों को निष्कारण ही कष्ट होता है।

श्रावक जब तक गृहस्थावस्था में है, कौटुम्बिक जीवन में फँसा हुआ है, तब तक उसे जीवन की रक्षा के लिए, प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, कुटुम्ब के भरण पोषण के लिए और इसी तरह अन्य कार्यों के लिये कई तरह के कार्य करने पड़ते हैं। उन कार्यों के करने में आरम्भ समारम्भ का होना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार श्रावक को आरम्भ समारम्भ तो करना ही पड़ता है, लेकिन श्रावक होने के कारण इस बात का ध्यान रखना उसका कर्त्तव्य है, कि मेरे द्वारा वही कार्य हो, मैं उसी आरम्भ समारम्भ में पड़ूं जिसका करना मेरे लिए आवश्यक है, और जिसके करने से मेरा कोई उद्देश्य पुरा होता है। इस तरह का ध्यान रख कर उसे ऐसा कोई कार्य न करना चाहिये, जिससे किसी उद्देश्य विशेष की पूर्त्ति नहीं होती, जिसके किये बिना कोई आवश्यकता नहीं रुकती, और जो केवल प्रमाद, कौतूहल अथवा रूढ़ी परंपरा के कारण किये जाते हैं। श्रावक के लिए आरम्भ जा हिंसा खुली है, फिर भी श्रावक इस छूट का उपयोग केवल सार्थक कार्यों में ही कर सकता है, निरर्थक कार्यों में नहीं कर सकता। इसलिये श्रावक को प्रत्येक कार्य के विषय में यह विचार कर लेना चाहिए, कि मेरे द्वारा किया जाने वाला यह कार्य मेरे किस आवश्यक उद्देश्य की पूर्त्ति करता है, मेरा यह कार्य सार्थक है या निरर्थक और इस तरह का विवेक करके उसे उन कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए जो किसी उद्देश्य को

पूरा नहीं करते हैं, किन्तु निरर्थक हैं। इस तरह के निरर्थक कार्य चाहे रूढ़ि परम्परा के नाम पर किये जाते हों, अथवा और किसी कारण से। श्रावक को तो अनर्थ दण्ड विरमण-व्रत स्वीकार करके ऐसे निरर्थक कार्य त्याग ही देने चाहिएँ।

आज कल रूढ़ि परम्परा के नाम पर ऐसे अनुचित कार्य भी किये जाते हैं, जो किसी तरह लाभप्रद होने के बदले हानिप्रद ही होते हैं। ऐसे कामों का किया जाना रीति रिवाज में माना जाता है। उनके औचित्य अनौचित्य पर विचार तक नहीं किया जाता न यही देखा जाता है, कि इन कार्यों से किसी उद्देश्य की भी पूर्ति होती है या नहीं और ये कार्य सार्थक हैं या निरर्थक। इस तरह के अनेक कार्य तो ऐसे भी हैं, जिनके करने से धन, जन, स्वास्थ्य और सभ्यता नष्ट होती है, फिर भी उन कार्यों को नहीं त्यागा जाता। बल्कि यदि कोई बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे कार्यों को त्यागने के लिये कहता है, अथवा इस के लिये कोई प्रयत्न करता है, तो ऐसा करनेवाले पर अनेक दोषारोपण कर दिये जाते हैं, उसे प्राचीनता तथा परम्परा का नाशक कहा जाता है और जिस तरह बनता है उसे हतोत्साह कर दिया जाता है। यही कारण है, कि आज यह भारत, रूढ़ि परम्परा के नाम पर पतित होता जा रहा है। इस तरह के कामों के औचित्य अनौचित्य के विषय में, दूसरे लोग विचार करें या न करें, और जो अनुचित निरर्थक-

अथवा हानिप्रद कार्य हैं उन्हें त्यागें, या न त्यागें लेकिन श्रावक को तो इस विषयक विवेक करना ही चाहिए, और रूढ़ि के गुलाम न रह कर उन कामों को त्यागना ही चाहिए, जो अनुचित हानिप्रद अथवा निरर्थक हैं। ऐसा करने पर श्रावक हानि से भी बच सकता है, व्यर्थ के कर्म बन्ध से भी बच सकता है, चित्त को समाधि भाव में भी रख सकता है, और मूल व्रतों का पूरी तरह पालन करने में भी समर्थ हो सकता है। इस तरह के व्यर्थ यानी निरर्थक कामों से बचना, यही अनर्थ दण्ड से बचना है। इसलिए अनर्थ दण्ड के पाप से बचने की इच्छा रखने वाले श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में अर्थ और अनर्थ का विचार कर लेना चाहिए तथा अनर्थ दण्ड का सर्वथा त्याग करके अर्थ दण्ड के सम्बन्ध में विवेक से काम लेना चाहिए।

जिस व्यक्ति ने जहां तक पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण नहीं की है, उस व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए अथवा गृह कार्य चलाने के लिए अर्थ-दण्ड का पाप करना ही पड़ता है। यह पाप आलस्य में पड़े रहने, उद्योग त्याग देने अथवा अकर्मण्य बन बैठने से नहीं छूटता, किन्तु तभी छूटता है, जब पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण की जावे। लेकिन जब तक पूर्ण त्यागवृत्ति स्वीकार नहीं की है, तब तक अपूर्णावस्था में अल्पपाप और महापाप का विवेक करके महापाप

से तो बचना चाहिए। यह व्रत विशेषतः इसी बात की प्रतिज्ञा कराता है, कि मैं प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में विवेक करूँगा और अनर्थ दण्ड से बचूंगा। इस व्रत का उद्देश्य प्रत्येक कार्य के विषय में विवेक करके अनर्थदण्ड से बचना यानि इस प्रकार व्यर्थ के पाप से आत्मा को बचाये रखना है।

अर्थ-दण्ड और अनर्थ-दण्ड की व्याख्या कुछ विचित्र सी है। जो कार्य एक व्यक्ति के लिए अर्थदंड है, वही कार्य दूसरे व्यक्ति के लिए अनर्थ दण्ड हो सकता है। इसलिए इस विषयक कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता, कि कौनसा कार्य अर्थ दण्ड है, और कौनसा अनर्थ दण्ड है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्यों की परिस्थिति एकसी नहीं होती प्रथक् प्रथक् होती है। अतः इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने विवेक की सहायता से कर सकता है।

शास्त्रकारों ने अनर्थ दण्ड के प्रधानतः चार भेद किये हैं। वे कहते हैं।

अणत्था दण्डे चउविहे पण्णत्ते तंजहा, अवज्झाणाचरिए, पमायाचरिए हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे।

अर्थात्—अनर्थ दण्ड चार प्रकार का होता है, अपध्याना चरितं, प्रमादा चरित, हिंसा में सहायक होना और पाप कर्म का उपदेश देना।

अनर्थ दण्ड के शास्त्रकारों ने जो चार भेद किये हैं, उनमें

से पहला भेद अपध्याना चरित अनर्थ दण्ड है। अपध्यान किसे कहते हैं, इसके लिए कहा है, कि: —

अप्रशस्त ध्यानमपध्यानम् ।

अर्थात्—जो अप्रशस्त यानी बुरा है, वह ध्यान अपध्यान कहलाता है।

ध्यान का अर्थ है अन्तर महूर्त्त मात्र किसी प्रकार के विचारों में चित्त की एकाग्रता होना। निरर्थक बुरे विचारों में चित्त की एकाग्रता करने से जो अनर्थदण्ड होता है, शास्त्रकार उसे अपध्यान चरित, अनर्थदण्ड कहते हैं। यानि बुरे विचारों से होने वाला अनर्थदण्ड।

अपध्यान के शास्त्रकारों ने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो भेद किये हैं। आर्त्तध्यान 'आ' और 'ऋत' इन दो शब्दों से बना है। ऋत का अर्थ दुःख है। ऋत शब्द में 'आ' उपसर्ग लगा कर ऋत को प्रबल बनाया गया है। इस प्रकार आर्त्तध्यान का अर्थ दुःख के कारण उत्पन्न बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना है। शास्त्रकारों ने आर्त्तध्यान के भी निम्न चार भेद किये हैं—

अमणुन्न संपओग संपउत्ते तस्सविप्पओगस तिसमण्णागते यावि भवई, १ मणुन्न संपओग संपउत्ते तस्स अविप्पओग स तिसमण्णागते यावि भवई, २ आयंक संपओग संपउत्ते तस्स

विप्पओगस ति समण्णागते यावि भवई, ३ परिजुसित काम भोग संपउत्ते तस्स अविप्पओगस ति समण्णागते यावि भवई ४ ।

(स्थानाङ्ग सूत्र चतुर्थस्थान)

ऊपर जो चार भेद बताये गये हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं; अनिष्ट का संयोग होने पर, इष्ट का वियोग होने पर, रोगादि होने पर और इष्ट की प्राप्ति के लिए उत्पन्न चिन्ता या दुःख, इन चार तरह के दुःख के होने पर पीड़ा से अथवा दुःख से मुक्त होने के लिए उत्पन्न बुरे विचारों में मन का एकाग्र होना आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान के इन चारों भेदों के विषय में कुछ अधिक स्पष्टीकरण होना आवश्यक है, जो नीचे किया जाता है।

अपनी हानि करने वाले, या जिस हानि को हमने अपनी हानि मान रखी है वह हानि करने वाले का संयोग होना अनिष्ट संयोग-यानी न चाहा हुआ मिलन—कहाता है। अपना या अपने स्वजन का शरीर धन आदि नष्ट करने वाले-विष, अग्नि, शस्त्र, हिंस्र-पशु, दुष्ट या दैत्यादि भयंकर प्राणियों का संयोग हो जाना मिल जाना अनिष्ट संयोग है। थोड़े में हानि करने वाले के पंजे में फँस जाना अनिष्ट संयोग है। इस तरह से अनिष्ट संयोग से उत्पन्न दुःख के कारण, अथवा ऐसे अनिष्ट संयोग से छुटकारा पाने के लिये मन में जो बुरे तथा दुःख भरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन विचारों में मन का तल्लीन होना, आर्त्तध्यान का पहला भेद है।

जो अपने को प्रिय है उस राज्य, धन, स्त्री, पुत्र प्रभृत्ति कुटुम्बी जन का वियोग हो जाना यानी छूट जाना इष्ट वियोग है। ऐसा इष्ट वियोग का दुःख होने पर उस दुःख के कारण, अथवा इष्ट चीजों की रक्षा की चिन्ता से पैदा हुए दुःख के कारण जो दुःख पूर्ण बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन बुरे विचारों में मन का एकाग्र होना आर्त्तध्यान का दूसरा भेद है।

आर्त्तध्यान का तीसरा भेद शारीरिक रोगों से होने वाले दुःख के कारण, अथवा ऐसे दुःख से मुक्ति मिलने की चिन्ता के कारण उत्पन्न दुःख पूर्ण बुरें विचारों में मन का एकाग्र होना है। और आर्त्तध्यान का चौथा भेद है, विषय भोग के अप्राप्त पदार्थों के कारण दुःख या प्राप्ति की चिन्ता के कारण उत्पन्न दुःखपूर्ण बुरे विचारों में मन का एकाग्र होना। उदाहरण के लिए, हाय! मुझे वह चीज क्यों नहीं मिली! मैं वह चीज कैसे प्राप्त करूँ! आदि दुःख या चिन्ता से बुरे और दुःखपूर्ण विचार होना तथा उन विचारों में मन का लगना, आर्त्तध्यान का चौथा भेद है।

मतलब यह कि अनिष्ट के संयोग से, इष्ट के वियोग से, रोग की प्राप्ति से और भोग की अभिलाषा से पीड़ित व्यक्ति पीड़ा से घबराकर जो बुरे विचार करता है, उन बुरे विचारों में मन का लगना आर्त्तध्यान है। रोने चिल्लाने हाय-हाय करने आदि पीड़ा प्रतीक कार्यों का समावेश भी आर्त्तध्यान में ही है। क्यों कि ये सब

बाह्य बातें मन के विचारों से ही उत्पन्न होती हैं। आर्त्तध्यान का लक्षण थोड़े में बताने के लिए एक कवि कहता है—

> राज्योपभोग शयनासन वाहनेषु।
> स्त्री गन्ध माल्य वर रत्न विभूषणेषु॥
> अत्याभिलाष मिति मांत्र मुपैति मोहाद।
> ध्यानंतदार्त मिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात्—राज्योपभोग, शैया, आसन, वाहन, स्त्री, गन्ध, माला, रत्न, आभूषण आदि की अत्यन्त अभिलाषा अथवा इन पर अत्यन्त मोह होने के कारण जो ध्यान होता है, ज्ञानी लोग उस ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं।

अपध्यान का दूसरा भेद रौद्रध्यान है। स्वार्थ अथवा क्रोध मोह, लोभ, भय आदि के वश होकर दूसरे की हानि के लिए उत्पन्न विचारों में मन का एकाग्र होना रौद्रध्यान है। रौद्र का अर्थ है भयङ्कर। जो दूसरे के लिए भयङ्कर है ऐसे विचार में एकाग्र होना रौद्रध्यान है।

शास्त्रकारों ने रौद्रध्यान के भी "हिंसानुबन्धी, मोसानुबन्धी, तेणाणुवन्धी और सारक्खणाणुबन्धी", ये चार भेद किये हैं। अपने या दूसरे के द्वारा मारे, कूटे, बांधे या दूसरी तरह से कष्ट पाते हुए व्यक्ति को देख कर या उसका करुण अथवा आर्त्तनाद सुनकर प्रसन्न होना, अथवा अमुक प्राणी को किस तरह मारना, बांधना या

यह काम किसके द्वारा कराना चाहिए, यह काम करने में कौन चतुर है, इस काम को कौन शीघ्र कर सकता है आदि विषयक भयङ्कर विचारों में मन को लगाना हिंसानुबन्धी नामक रौद्रध्यान का पहला भेद है।

रौद्रध्यान का दूसरा भेद मोसाणुबन्धी यानी मृषानुबन्धी है। झूठ को सफल बनाने, सच्ची बात को झूठी और झूठी को सच्ची ठहराने के उपाय विचारने में, अपना स्वार्थ साधने, अनुचित लोगों की भावुकता या उदारता का अनुचित लाभ उठाने के और लोगों को अपने प्रभाव में लाने के लिये कोई झूठा प्रपंच रचने, झूठे शास्त्र आदि बनाने का उपाय सोचने में मन को एकाग्र करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

चोरी, डकैती अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य के लिए, पर धन, परदार आदि का हरण करने के विचार में तल्लीन होना, उपाय सोचना, ऐसे कार्यों में हर्ष मानना, यह स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान है, जो रौद्रध्यान का तीसरा भेद है।

अपने को जो वस्तु प्राप्त है उसकी रक्षा के लिए स्त्री, भूमि, धन या सुख के अन्य साधनों को दूसरे से बचाने के लिए, कोई उन्हें छीन न सके या उनमें भाग न करा सके, इस सम्बन्धी अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए और ऐसी सामग्री पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए क्रूर विचारों में मन का एकाग्र

होना यह संरक्षणानुवन्धी नाम का रौद्रध्यान है, जो रौद्रध्यान का चौथा भेद है।

रौद्रध्यान के ये चार भेद हैं। संक्षेप में रौद्रध्यान किसे कहते हैं यह बताने के लिए एक कवि कहता है—

> सं छेदनैर्दमन ताड़न तापनैश्च।
> बन्ध प्रहार दमनैश्च विकृन्तनैश्च॥
> यश्येह राग मुपयाति न चानुकम्पा।
> ध्यानं तु रौद्र मिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात्—जिन में क्रूरता भरी हुई है, जिनमें अनुकम्पा नहीं है किन्तु जो दूसरे के लिए भयङ्कर हैं, दूसरे प्राणी को छेदने, भेदने, पीटने, मारने, तपाने, बांधने, बिगाड़ने आदि की जिनमें प्रधानता है, ऐसे विचारों में मन के तल्लीन होने को ज्ञानी लोग रौद्रध्यान कहते हैं। †

---

† वर्तमान समय में अधिकांश मनुष्यों ने नैतिक उद्योग त्याग कर सट्टे फाटके को ही अपना व्यवसाय बना रखा है, और यह करके भी, जो नैतिक उद्योग धन्धा करने वाले हैं उन्हें तो पापी, हिंसक आदि कहते हैं, तथा स्वयं को धर्मी एवं अहिंसक मानते हैं। लेकिन ज्ञानी लोग ऐसा नहीं मानते, किन्तु इस तरह के अहिंसकों को वे भाव हिंसक कहते हैं। उनकी दृष्टि में कायिक पाप की अपेक्षा मानसिक पाप बहुत बड़ा है। उनका कथन है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

जिन जीवों के मन नहीं है, वे न तो अधिक उन्नत ही हो सकते हैं, न अधिक अवनत ही। इसके विरुद्ध जिन जीवों को मन प्राप्त है वे जीव

ऊपर जिन आर्त्त और रौद्रध्यान का रूप बताया है, वे अप-ध्यान में हैं, जो अनर्थदण्ड का पहला भेद है। इस तरह का अपध्यान जो व्यर्थ ही होता है, किसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए आवश्यक नहीं माना जाता है, उसकी गणना अनर्थदण्ड में की गई है। निरर्थक अपध्यान करने से जो अनर्थदण्ड होता है, वह अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है। अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड में वही अपध्यान माना गया है, जो निष्कारण निष्प्रयोजन और अज्ञानवश किया जावे। जो सकारण और सप्रयोजन है, वह अपध्यान अर्थ-दण्ड में है।

अनर्थदण्ड का दूसरा भेद प्रमादाचरित अनर्थ दण्ड है। शास्त्रकारों ने प्रमाद के पाँच भेद किये हैं। आत्मा संसार में क्यों रुलता है, यह बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मज्झं विसय कसाया, निद्दा विकहाय पंचमी भाणिया ।
ए ए पंच पमाया, जीवा पडंति संसारे ॥

अर्थात्—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पाँच प्रमादों का सेवन करके जीव इस संसार-समुद्र में गिरता है।

इस प्रकार प्रमाद के पाँच भेद कहे गये हैं। नीचे इन पाँचों भेदों का पृथक्-पृथक् स्वरूप बताया जाता है।

उन्नति करें तो मोक्ष तक प्राप्त कर सकते हैं और अवनत हों तो सातवें नरक तक में जा सकते हैं। इसलिए श्रावक को अपना मन प्रशस्त ध्यान में ही लगाना चाहिए।

१ मदः—मद शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो अहंकार और दूसरा मदिरा (शराब)। अहंकार भी उन्मत्तता देता है और मदिरा भी। मद, प्रमाद का मुख्य उत्पादक और आत्मा को पतित करने वाला है।

२ विषयः—पाँच इन्द्रियों के २३ विषय हैं, जिनमें फँसकर आत्मा अपने आपको भूल जाता है। जिसकी इन्द्रियाँ विषयासक्त हो जाती हैं, वह व्यक्ति अपने प्राणों को भी जोखिम में डाल देता है।

३ कषायः—क्रोधादि कषाय का प्रकोप होने पर आत्मा बेभान हो जाता है, अपने आपे में नहीं रहता।

४ निद्राः—निद्रा भी आत्मा की सावधानी का अपहरण करती है। निद्राधीन लोगों को अनेक प्रकार की हानि उठानी पड़ती है।

५ विकथाः—जिनके कहने सुनने से कोई लाभ नहीं, उन बातों की गणना विकथा में है। विकथा आत्मा के गुणों का नाश करने वाली होती है।

ये पाँच प्रमाद अनर्थदण्ड में हैं। संसार में रहनेवाला व्यक्ति प्रमाद का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। इसलिए प्रमाद के भी सकारण और अकारण भेद करके कहा गया है, कि सकारण प्रमाद तो अर्थदण्ड में है और निष्कारण प्रमाद अनर्थदण्ड में है।

अनर्थदण्ड का तीसरा भेद हिंसप्पयाणे यानी हिंसा में सहायक होना है। टीकाकार कहते हैं—

हिंसा हेतुत्वादायुधानल विषादयो हिंस्रोच्यते तेषां प्रदानम् अन्यस्मै क्रोधाभिभूताय अनभिभूताय प्रदानं परेषां समर्पणम् ।

अर्थात्—जिनसे हिंसा होती है, उन अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को—हिंसा के उपकरणों को—क्रोध से भरे हुए अथवा क्रोध नहीं है फिर भी जो अनभिज्ञ है उसके हाथों में दे देना, हिंसप्पयाणे या हिंसा में सहायक होना है।

यद्यपि इस तीसरे भेद का रूप ऐसा है, फिर भी इसमें अर्थ अनर्थ का भेद किया गया है, और अर्थ से ऐसा करना अर्थदण्ड में तथा निष्कारण ही ऐसा करना अनर्थदण्ड में माना गया है। वर्त्तमान कानून के अनुसार भी क्रोध से भरे हुए उत्तेजित आदमी को, अथवा जो क्रोध से भरा हुआ न होने पर भी अनभिज्ञ है उसको शस्त्र, विष, अग्नि आदि देना अपराध माना गया है।

अनर्थदण्ड का चौथा भेद 'पावकम्मोवएसे' यानी पापकर्म का उपदेश देना है। जिस उपदेश के कारण पापकर्म में प्रवृत्ति हो, उपदेश सुननेवाला पापकर्म करने लगे, वैसा उपदेश देना अनर्थ दण्ड है।

बहुत लोगों की यह आदत रहती है, कि वे दूसरे को पापकर्म करने के लिए उपदेश देते रहते हैं। बकरा मारो, पशुबलि करो, चोरी करो, राज्यद्रोह करो या राष्ट्रोत्थान में बाधक बनो आदि उपदेश देना अनर्थदण्ड का चौथा भेद है।

अनर्थदण्ड के जो चार भेद बताये गये हैं, उन चारों को समझ

कर श्रावक के लिए अनर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करना ही उचित है। इसके लिए आत्मा को सावधान रखने, एवं प्रत्येक कार्य के विषय में विवेक करने यानी विचार करने की आवश्यकता है। जो प्रत्येक कार्य के विषय में अर्थ अनर्थ का विवेक करता है और निरर्थक कामों से बचता है, वही अनर्थदण्ड के पाप से बचा रह सकता है। अनर्थदण्ड द्रव्य से तो प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व का विनाश करता है और भाव से आत्मा की हानि करता है। व्यवहार में दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाना या दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाने का विचार करना, निश्चय में अपने आत्मा की ही हिंसा है। इसलिए श्रावकों को अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिए।

कोई कह सकता है, कि दण्ड तो सर्वथा त्याज्य होना चाहिए, फिर अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड ये भेद करके अनर्थदण्ड ही त्यागने का क्यों कहा गया? दण्डमात्र त्यागने का क्यों नहीं कहा गया? इस कथन का उत्तर यह है, कि वास्तव में है तो दण्डमात्र बुरा और त्याज्य, लेकिन गृहस्थों के लिए दण्ड का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं। साधु तो दण्डमात्र का त्याग कर सकते हैं, परन्तु गृहस्थ दण्ड मात्र का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए गृहस्थों के वास्ते दण्ड के दो भेद किये गये हैं, और कहा गया है कि गृहस्थ अनर्थदण्ड का त्याग करे। गृहस्थ, अर्थदण्ड का त्याग नहीं कर सकता। वह जितना हो सके उतना, अर्थदण्ड से बच तो अवश्य सकता है, लेकिन

अनर्थदण्ड की तरह अर्थदण्ड का भी सर्वथा त्याग करना उसके लिए सम्भव नहीं हो सकता। बल्कि यदि कोई गृहस्थ अर्थ दण्ड का सर्वथा त्याग करेगा, तो बहुत संभव है कि वह अर्थ दण्ड के बदले अनर्थदण्ड का पाप करने में पड़ जावेगा। क्योंकि उसकी आवश्यकताएँ ही ऐसी हैं, वह ऐसे प्रपंच में उलझा हुआ है, कि जिसके कारण दण्ड के बिना उसका काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए एक गृहस्थ न्याय पूर्वक द्रव्योपार्जन करता है और आजीविका चलाता है। इस कार्य में उससे अर्थ दण्ड तो होता ही है। अब यदि वह अर्थ दण्ड से बचने के लिए न्याय पूर्वक कीजानेवाली आजीविका का त्याग कर देता है, तो उस दशा में वह भूखों मरने से तो रहा! फिर तो उसके लिए चोरी, डकैती, ठगाई अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य करना आवश्यक हो जाता है, और चोरी अथवा चोरी की ही तरह के दूसरे कार्य करने पर मूल व्रत की भी घात होगी और अर्थदण्ड के स्थान पर अनर्थ दण्ड होगा। इस प्रकार गृहस्थ होते हुए भी, अर्थ दण्ड सर्वथा त्यागने का प्रयत्न करना अपने को अनर्थदण्ड में डालना है। ज्ञानियों ने इस बात को दृष्टि में रख कर ही गृहस्थों के लिए अनर्थदण्ड सर्वथा त्यागने और अर्थदंड से यथा शक्ति बचने का विधान किया है। गृहस्थ अर्थदण्ड सर्वथा नहीं त्याग सकता, इसीलिए उनने अर्थदण्ड त्यागने का नहीं कहा। हाँ किसी समय

विशेष के लिए तो यह सम्भव है, कि गृहस्थ अर्थदण्ड से भी बच सकें, जैसे कि सामायिक पौषध आदि व्रतों के समय अर्थदण्ड सर्वथा त्यागा जाता है, लेकिन जीवन भर के लिए अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करना गृहस्थ के लिए सम्भव नहीं है।

आज कल बहुत से लोग गृहस्थ श्रावक को अर्थदण्ड का बिना समझे या समझाये त्याग कराते हैं। परिणाम यह होता है, कि 'लेने गई पूत और खो आई पति' कहावत के अनुसार अर्थ दण्ड के बदले अनर्थदण्ड गले पड़ जाता है। उदाहरण के लिए यदि अर्थदण्ड से बचने के वास्ते स्वास्थ्य रक्षक कार्यों की उपेक्षा की जावेगी, उन्हें त्याग दिया जावेगा, तो शरीर में रोग होने पर उन भ्रष्ट दवाइयों का सेवन करना पड़ेगा, जिनके सेवन से अनर्थदण्ड होता है। अथवा अर्थदण्ड से बचने के लिए सब लोग कृषि करना त्याग दें, जिससे संसार का काम चलता है वह अन्न अर्थदण्ड से बचने के नाम पर कोई उत्पन्न ही न करे, तो क्या काम चल सकता है? क्या उस दशा में भूखों मरते हुए लोग, अनर्थदण्ड का सेवन न करेंगे और भयंकर पाप में न पड़ेंगे? खेती आदि करने में अर्थदण्ड तो अवश्य होता है, लेकिन यह अर्थदण्ड अनर्थदण्ड से बचाने वाला है। इस अर्थ दण्ड के बिना काम नहीं चल सकता। खेती करने वाला स्वयं भी अनर्थ दण्ड से बचता है, दूसरों को अनर्थ दण्ड से बचाने रूप परोपकार

भी करता है और यदि वह विवेक से काम ले, तो खेती करता हुआ पुण्य भी बांध सकता है।

मतलब यह कि, गृहस्थों से अर्थदण्ड का त्याग कराना, उन्हें अनर्थदण्ड में डालना है। इस बात को दृष्टि में रख कर ही शास्त्रकारों ने गृहस्थों पर अर्थदण्ड त्यागने का भार न डाल कर अनर्थदण्ड त्यागने का ही भार डाला है और इसी से इस व्रत का नाम अनर्थदण्ड विरमण व्रत है जिसका सब जीवों के लिये अंगीकार करने का विधान है।

अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत के अतिचार

शास्त्रकारों ने अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं। वे कहते हैं—

अनत्थादण्ड वेरमणस्स समणोवासगाणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा—कन्दप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोग परिभोगाइरिते।

अर्थात्—अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो जानने योग्य हैं परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण, उपभोग परिभोग रति।

१ पहला अतिचार कन्दर्प है। काम वासना प्रबल करनेवाले और मोह उत्पन्न करनेवाले शब्दों का हास्य या व्यङ्ग में दूसरे के लिए उपयोग करना कन्दर्प नाम का पहला अतिचार है।※ (सरल चित्त से हास्योत्पादक शब्दों का सहज प्रयोग अतिचार में नहीं है।)

※ काम वासना प्रबल करने वाले या मोह उत्पन्न करने वाले शब्दों का लेखनकला द्वारा प्रयोग करना भी इसी अतिचार में है।

२ दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है। आँख, नाक, मुँह, भृकुटि आदि अपने अंगों को विकृत बनाकर भाँड या विदूषक की तरह लोगों को हँसाना, यह कौत्कुच्य नाम का दूसरा अतिचार है। सभ्य लोगों के लिए ऐसा करना, प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी अनुचित है। क्योंकि ये कार्य प्रतिष्ठा का नाश करनेवाले होते हैं।

३ तीसरा अतिचार मौखर्य है। निष्कारण ही अधिक बोलना, निष्प्रयोजन और अनर्गल बातें कहना, थोड़ी बात से काम चल सकने पर भी अधिक बात बोलना, यह मौखर्य नाम का तीसरा अतिचार है।

४ चौथा अतिचार संयुक्ताधिकरण है। कूटने, पीसने और गृहकार्य के दूसरे साधन—जैसे ऊखल, मूसल, चक्की, झाड़ू, सूप, सिला लोढ़ी आदि वस्तुओं का अधिक और निष्प्रयोजन संग्रह रखना संयुक्ताधिकरण नाम का चौथा अतिचार है।

५ पाँचवाँ अतिचार उपभोग परिभोगइरत्ते है। उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करते हुए जो पदार्थ मर्यादा में रखे गये हैं उनमें अत्यधिक आसक्त रहना, उनमें आनन्द मानकर उनका बार बार उपयोग करना, उनका उपयोग जीवन निर्वाह के लिए नहीं किन्तु स्वाद या आनन्द के लिए करना उपभोग परिभोग अति रति है। उदाहरण के लिए पेट भरा होने पर भी स्वाद के लिए खाना, अथवा आवश्यकता न होने पर भी शौक के लिए वस्त्रादि का धारण करना

या उन्हें बार बार बदलना, अथवा आनन्द के लिए अनावश्यक ही बार बार स्नान करना आदि उपभोग परिभोगइरित्ते हैं।

श्रावकों को इन पाँचों अतिचार का स्वरूप समझ कर इनसे बचते रहना चाहिए। ऐसा करने से उनका व्रत निर्मल रहेगा और वे आत्मा का कल्याण कर सकेंगे।

इन तीन गुणव्रतों का विस्तार जितना भी किया जावे, हो सकता है। सारे संसार की समालोचना इन व्रतों के वर्णन में समावेश हो सकती है—जो महाज्ञानी लोग ही कर सकते हैं। संक्षेप में ही हमने स्वरूप समझाने की चेष्टा की है। आशा है सुज्ञजन इससे तत्त्वलाभ प्राप्त करके आत्मोत्थान के लिये प्रवृत्त होंगे। इत्यलम्।